अपनी सफ़ाई में—

शाम का समय था, यों भी जी नहीं लग रहा था। बदलते हुए मौसम का मुझ पर प्रभाव था। यों तो साल के बारह महीने होते हैं और हर महीना, जीवन के तैंतीस साल बीत जाने के बावजूद भी, अपने साथ एक नई कैफ़ियत लाता है। सोचिये तो जीवन यों भी कै दिन या कै क्षण का होता है। लेकिन मार्च का महीना ऐसा होता है जब कि ज़िन्दगी प्रत्येक मिनट में सिमट कर रह जाती है। दुनिया की हर चीज़ नश्वर है—ऋतु भी इसी प्राकृतिक नियम का शिकार है। परन्तु जब जाड़ा मरकर गर्मी को जन्म देता है, वैसे ही जैसे बिच्छू मरकर बिच्छू को जन्म देता है, तो मालूम नहीं क्यों मेरे ऊपर ऐसा प्रभाव पड़ता है मानों मैं हर हर क्षण मर रहा हूँ। और वह भी ऐसा वैसा मरना नहीं, बल्कि जिसे अंग्रेज़ी में इंच ब इंच मरना कहते हैं। मगर फिर भी मर नहीं चुकता। (आदमी की हर अवस्था उसे कोई न कोई उपहार दे जाती है। मेरे लिये जवानी का उपहार दिल की धड़कन है। इस ऋतु में धड़कन इतनी बढ़ जाती है कि हर हिचकी ज़िन्दगी की आख़री हिचकी समझने लगता हूँ।

जब जी बहुत घबराने लगा तो एक जगह से उठ कर दूसरी जगह

बैठा। और जब वहाँ भी न रहा गया तो तीसरी जगह बैठा। परन्तु जब वह जगह भी खाने को दौड़ी तो उठ कर टहलने लगा। टहलते टहलते, तबियत बदलने के लिये, खिड़की के पास जाकर बाहर देखने लगा। पीली पत्तियों को तेज़ हवा के झोंके के साथ सूखी घास पर गिरते देखा तो ऐसा अनुभव हुआ जैसे कोई मेरा गला पकड़ कर घोंट रहा है। लाचार पलंग पर लेट गया। लेटना था कि धड़कन की तीव्रता से दिल गेंद की तरह उछलने लगा। उसे कम करने के लिए सर के नीचे से तकिया हटा दी। परन्तु अब मजबूरी की ऐसी हालत थी मानो बिस्तर से फिर न उठ सकूँगा। शान्ति और निस्तब्धता वही थी जो थक कर, जीवन से हार मान कर, यहाँ से चलने से पहले होती है—

शाम हो चुकी थी। बड़े दरवाज़े से कोई सज्जन दाख़िल हुये। पैरों की आहट से मेरी चेतना भी जागी। आदमी को देख कर आदमी में जान आ जाती है। उठ खड़ा हुआ। हिन्दी के लेखक थे, इसलिये वाजिब ढंग से स्वागत किया। फिर आदर से उन्हें बैठाया। चूंकि कुछ गम्भीर लग रहे थे, इसलिये प्रेम और श्रद्धा की दरिया बहाते हुये, उन्हें पलंग ही पर बैठने को कहा। बैठने को बैठ गये। परन्तु, सर्दी के ख़्याल से, जब मैंने अपना कम्बल उनकी ओर बढ़ाना चाहा तो उन्होंने उसे यों ही छूकर छोड़ दिया। सोचा कुछ अप्रसन्न हैं। दो चार दिन पहले 'टूटे हुये दिल' की एक प्रति उनकी सेवा में भी भेजी थी। सम्भवतः 'अपनी और पराई बात' से सदमा पहुँचा है। वाजिब नहीं था कि पुस्तक के बारे में बात छेड़ता। परन्तु जब देखा कि किसी तरह और दिन की भाँति आज खिल नहीं रहे हैं तो सोचा—अपने और इनके बीच जो पहाड़ खड़ा हो गया है उसे ख़तम ही करने में कुशल है। चुनांचे 'टूटे हुये दिल' के बारे में पूछा। खिन्न भाव से बोले—"हाँ कुछ कहानियाँ अच्छी बन पड़ी हैं।" 'उजागर' जी के वाक्य से कुछ अधिक सन्तोष न हुआ। इसलिये बात और स्पष्ट करके पूछा—"भूमिका पढ़ी होगी ?" फिर क्या

था। दिल में क्रोध के असन्तुष्ट भावों का जो तूफ़ान छिपा हुआ था वह उभर आया। "आपके कहने का यही मतलब है न कि हिन्दी वाले गँवार हैं, वे भले आदमियों की संगत में बैठने योग्य नहीं। तो हम कब चाहते हैं कि हमें कोई अपने साथ बैठाये?" कहते समय उनका चेहरा सुर्ख़ हो गया था। मेरे तो होश उड़ गये। लिखते समय जो जी में आया लिख डाला था। पुस्तक छपने के बाद हर बात का जवाब भी सोचे बैठा था—अगर किसी से हुज्जत हुई तो क्या कहूँगा। परन्तु ऐसी परिस्थिति के लिये तैयार नहीं था। अब तो ज़बान खोले नहीं खुलती थी। कुछ देर हम दोनों चुप बैठे रहे। बात बदलने के सिवा कोई चारा न रहा। नौकर को आवाज़ दी, चाय लाने को कहा। ख़ुद तो सिगार जलाया। चूँकि 'उजागर' जी धूम्रपान नहीं करते थे इसलिये उनके लिये पान का इन्तज़ाम किया। परिस्थिति कुछ बदलने लगी। बाहर हवा की गति भी तीव्र हो गई थी। खिड़कियाँ खुली थीं, इसलिये कमरे में सर्दी बढ़ने लगी। मैंने कम्बल उजागर जी की ओर बढ़ा दिया। कम्बल पैर पर डालते हुये बोले—"हिन्दी पर जो कठिनाइयाँ छाई हुई हैं उन्हें हिन्दी वाला ही जान सकता है। पसीना बहा कर हिन्दी का लेखक चार पंक्ति लिखता है जिसके बदले उसे चार पैसे भी नहीं मिलते। मुस्लिम साम्राज्य के साये में यह पौदा पनप ही क्या सकता था। अंग्रेज़ तो इसे जड़ से ही उखाड़ कर फेंके दे रहे थे। द्विवेदी जी ने अपने को मिटाकर इसकी 'क़लम' की तब से इसमें जान आई। 'प्रसाद' जी तम्बाकू बेचकर इसकी सेवा करते रहे। प्रेमचन्द ने जब इसे जनता की चीज़ बनाने का प्रयत्न किया तो उन्हें नौकरी से हाथ धोना पड़ा। शेष जीवन किताबें बेचकर और प्रेस चलाकर भी पेट नहीं भर सके। आज हम तीस-चालीस रुपये के वेतन पर जीते हैं। हिन्दी लिखते हैं और ख़ून थूककर एक दिन मर जाते हैं....."।

गाय नहीं मारी थी इसलिये यह तो नहीं जानता कि गौहत्या कैसी होती है। परन्तु उस समय मैं ऐसा अनुभव कर रहा था जैसे गाय

मार कर हाथ काला किये बैठा हूँ—अब किसी को क्या मुँह देखाऊँगा। अभी तक घर ही तक था, जो जी में आता बकता झकता रहता। घर की बातें घर ही में रहतीं। अब क्या होगा? पुस्तक छपकर, एक नहीं बल्कि हज़ार की गिनती में, हज़ार घरों पहुँची। किस किस को समझाता फिरूँगा—

सोने को सोया लेकिन नींद क्या आती। ज्यों ही आँख लगती सपने घेरने लगते—देखता हूँ जयशङ्कर प्रसाद दूकान पर बैठे चौड़ी चौड़ी पत्तियों में तम्बाकू लपेट कर सुतली से बाँध रहे हैं। बग़ल में, पोथियाँ नीचे ऊपर रखकर ढेर लगाये हुये हैं। गन्दे कपड़े में हाथ पोंछकर सटक की निगाली उठा कर दो फूँक पीते हैं। फिर लम्बी बही पर घिसी हुई क़लम से लिखने लगते हैं। लिखते हैं, सोचते हैं, और फिर लिखते हैं। मेरी उत्सुकता बढ़ी। पूछा—"महराज, दुअन्नी की तम्बाकू बेची है। ऐसा भी क्या हिसाब है जो लिख नहीं चुकते?" घनी भौंह के नीचे से आँखें ऊपर की ओर करके उन्हों ने मुझे देखा और मुस्कराये—'कामायिनी है'। काले तम्बाकू की पिण्ड की ओर देखा मैंने और मुस्करा कर आगे बढ़ा। देखता हूँ, तरकारी की बाज़ार में कन्धे पर जुलहटी अँगोछी रखे प्रेमचन्द जी टहल रहे हैं। जान पहचान न होते हुये भी उन्होंने मुझे सर से पैर तक ग़ौर से देखा। नेत्रों में ऐसी मानवता और सरसता देख पड़ी कि उनसे भी बोलने की हिम्मत हो गई—"मुनशी जी, अगर तरकारी नौकर ख़रीदता तो एक ही आध पैसे तो खाता?" ठहाका मार कर बड़े ज़ोर से हँसे। बुढ़िया तरोई तौल रही थी, घबराहट में डाँडी की रस्सी टूट गई। क्रुध होकर, आँखें तरेर कर उसने मुनशी जी को देखा। मुनशी जी और खुलकर हँसते हुये बुढ़िया की ओर इशारा करके बोले—"यह कैसे देखता?" मैंने सोचा, यही सब देखते हैं तब लिखते हैं। डाकख़ाने में ख़त डालना था। परन्तु अब देर हो गई थी। सोचा स्टेशन ही चला चलूँ...तार बाबू के कमरे के बाहर बम्बे में ख़त डालकर उसमें हाथ डालकर भड़भड़ा

रहा था ताकि पत्र अच्छी तरह अन्दर पहुँच जाय। एक बाबू साहब अन्दर खिड़की के सामने लोहे के छड़ों के उस पार बैठे थे। बम्बे की आवाज़ सुनकर घबरा से गये। पत्र पढ़ रहे थे, उसे तो उन्होंने छिपा लिया। बायें हाथ से, चश्मे का तागा खुल गया था, उसे कान पर लपेटने लगे। मुख पर अप्रसन्नता के चिह्न नज़र आ रहे थे। इसलिये उन्हें सान्त्वना देने के लिये मैंने कहा—"हिन्दी लेखक हूँ, कहिये मज़े में हैं?" शान्त भाव होकर बोले, "मैं तो घबरा गया भाई। आप जानते ही हैं।" सोचा, द्विवेदी जी दूसरों की चिट्ठियाँ चुरा कर पढ़ रहे हैं। स्टेशन पर खोई हुई जो चिट्ठियाँ आ जाती हैं उनके मालिक आप बन जाते हैं। आदमी का सर फिर जाय तो क्या इलाज? इस धुन में हैं कि जिस प्रकार साधारणतः लोग बोलते और लिखते हैं वैसी ही 'भाषा' भी होनी चाहिये। लेकिन क्या लगन है आदमी में......

आँख खुल गई। अख़बार सिरहाने रखा था, उठाकर पढ़ने लगा और पढ़ते पढ़ते निश्चय किया कि कहानियों का दूसरा संग्रह भी अभी निकाल दूँ और भूमिका द्वारा सारी बातें वापस ले लूँ, हिन्दी जगत के सामने कान पकड़कर उठूँ बैठूँ। प्रकाशक महोदय भी आ गये। उनसे अपनी बात कही। उन्होंने काग़ज की कठिनाई पेश की। लेकिन मैं अपने इरादे पर दृढ़ रहा। खाना वाना खाकर कपड़े पहनने लगा। तबीयत में ज़ोर आ रहा था। उदासी जाती रही थी। मनसूबे जाग गये थे। नौकर से ताँगा लाने को कहा और स्वयं छड़ी लेकर बाहर निकला।

काग़ज़ के डिप्टी साहब नहीं मिले। अर्दली ने बताया, हुज़ूर थोड़ी देर में आ जायँगे। वक्त कैसे बिताऊँ? सामने हिन्दी साहित्य सम्मेलन की एमारत खड़ी थी। सोचा कभी देखा नहीं, मौक़ा अच्छा है देख लूँ। उधर से गुज़रते समय जब भी उस आलीशान एमारत पर नज़र पड़ती थी तो, हिन्दी का भला चाहने के नाते, मस्तक ऊपर उठ जाता था। एमारत के प्रत्येक खम्भे में, इन्द्रप्रस्थ से लेकर पाटलि-

पुत्र और दक्षिण भारत तक फैली हुई, हिन्दुओं की प्राचीन सभ्यता और उसकी निर्माणकला की शान झलकती थी। चुनांचे, जब साहित्य सम्मेलन की एमारत के सामने की सीढ़ियों पर क़दम रखा तो मस्तिष्क पर कैलाश पर्वत पर चढ़ने जैसा प्रभाव पड़ने लगा। पहाड़ देखने के मन्सूबे से अन्दर दाख़िल हुआ। वहाँ 'बिहारी' जी मिले। आवभगत के पश्चात, उन्होंने मुझे अपने कमरे में बैठाया। मैंने सोचा, इन्होंने शायद अभी 'अपनी और पराई बात' नहीं पढ़ी, चलो अच्छा ही हुआ। एमारत को अन्दर से देखने की जब मैंने इच्छा प्रकट की तो काम छोड़कर मुझे अन्दर ले जाने को 'बिहारी' जी तैय्यार हो गये। पहले बड़े हाल में पहुंचे। वहाँ अनोखा अनुभव हुआ। ऐसा लगा मानो क़ब्रगाह में खड़ा हूँ। 'ताबूत' की शकल की अलमारियाँ दोहरी क़तार में खड़ी थीं। मैंने पूछा—"भई, इनमें क्या है?" 'बिहारी' जी ने समझाया—"किताबें हैं।" "अगर किताबें हैं तो बाहर से देख क्यों नहीं पड़तीं?" उन्होंने बताया, हवाई हमले के डर से शीशे अन्दर से ढक दिये गये हैं।

एमारत के और हिस्से देखता हुआ मैं सोचता रहा—हिन्दुस्तान के अन्य भागों से हवाई हमले का ख़तरा समाप्त हो गया। परन्तु हिन्दी-जगत में अब भी 'ब्लैक आउट' है! अलमारियों में रखी हुई किताबें ऐसी लगती थीं जैसे ताबूतों में रखे हुये मुर्दे। फिर मुझे पूरा हिन्दी साहित्य मरी हुई चीज़ जैसा लगने लगा। सोचा, ऐसा बेजान साहित्य बेहतर है ताबूतों ही में रहे। इसे आज के जीने मरने की समस्याओं से क्या वास्ता? जहाँ तक हिन्दी का सवाल है, उसका वर्तमान, और इससे बढ़कर, उसका भविष्य हमारे वास्ते काफ़ी है। इसका भूतकाल तो मुझे भूत जैसा डराता है।

यही सब ख़ुराफ़ात सोचता हुआ 'बिहारी' जी के कमरे में आकर बैठा। असली एमारत के बग़ल में, उससे छोटी, एक और उसी ढंग की एमारत है। 'बिहारी' जी से मालूम हुआ, सम्मेलन की समितियों

में हिस्सा लेने बाहर से आने वाले साहित्यिकों के ठहरने की जगह है। उसके सामने फूलों की क्यारियों के बीच छोटा सा रास्ता है। रास्ते के किनारे किनारे और एमारत के सामने हज़ारों फूल सैकड़ों गुलाबों की टहनियों पर खिले हुये थे। चार पाँच आदमी खाना खाकर धूप लेने की ग़रज़ से इस तरफ़ से उस तरफ़ और उस तरफ़ से इस तरफ़ टहल रहे थे। 'बिहारी' जी का कमरा ज़रा ऊँचाई पर है इसलिये वहीं से बैठा बैठा यह दृश्य देख रहा था। थोड़ी थोड़ी देर पर उनके वादविवाद की एकाध कड़ियाँ इधर उधर से सुनाई पड़तीं। 'बिहारी' जी मुझे अपने धन्धे समझाने में लगे थे। किसी का अधकटा वाक्य उड़ता हुआ आया—"चतुर्वेदी जी यदि ऐसा कहते हैं तो क्या बेजा कहते हैं!" "लेकिन वह भूख हड़ताल किये हुये हैं, मर गये तो!" "मर जाने दीजिये, उनके जीने का किसने ठीका उठाया है?" मैंने ग़ौर से देखा, उस समय उनके क़दमों के पास गुलाब के जो हज़ारों लाल फूल खिले हुये थे वे मानों मुरझा गये हों। "परन्तु टण्डन जी को कितना दुःख होगा?" "भाई, हर बात में टण्डन जी टण्डन जी लगाये रहने से क्या लाभ? जो बात सामने है उसे देखिये। इस समय हिन्दी का हित इसी में है कि मेहता साहब...।" 'बिहारी' जी उस समय यह बता रहे थे कि सम्मेलन की परीक्षाओं में कितने छात्र भाग लेते हैं। किसी ने ऊँचे स्वर में कहा, "इसमें क्या सन्देह कि प्रान्तीय सरकार की सहानुभूति—।" उस समय मैंने गुलाबों को देखा वे मुस्करा रहे थे! कम तनख्वाह और इतना काम, 'बिहारी' जी करुण स्वर में कह रहे थे। उनकी ओर ध्यान देना पड़ा। पिछले शाम की 'उजागर' जी की हिन्दी साहित्यिकों की खींची हुई तस्वीर याद आई। इतने में किसी ने चीख़ कर कहा, "इसी वजह से तो जनता मिरजई जी की बातें सुनती है...।" उत्तर भी सुनाई पड़ा, "मिरजई जी को छोड़िये, मैंने उन्हें रगड़ कर रख न दिया तो साहित्यिक न कहियेगा।" उस समय सम्मेलन की एमारत की प्राचीन हिन्दू निर्माण

कला की शैली शोक से जैसे आँखें मूंदे ले रही थी !

घर लौटने पर 'प्रकाशगृह' के मैनेजर साहब बैठे इन्तज़ार कर रहे थे। मालूम हुआ दो सौ से अधिक प्रतियाँ चतुर्वेदी जी ने 'शिक्षा प्रसार विभाग' के वास्ते लेने को कह दिया है। दो सौ प्रतियाँ व्हीलर कम्पनी भेजी जा चुकी थीं। चूँकि पहली रचना थी इसलिये लगभग सौ प्रतियाँ तो दोस्तों दुश्मनों, सम्पादकों समालोचकों तथा नातों रिश्तेदारों को बाँट दी थीं। अब पाँच सौ से कुछ कम ही रह गईं। सोचा कुछ तो सिपाहियों के वास्ते सरकार ख़रीद ही लेगी। लगभग तीन हज़ार लड़के यूनीवर्सिटी में पढ़ते हैं। कम से कम तीन सौ तो अवश्य ही मेरी पुस्तक ख़रीदेंगे। पुस्तक चूँकि अपनी नज़र में अच्छी थी इसलिये विश्वास था पकौड़ियों की तरह बिकेगी। यह तो बाद में मालूम हुआ कि पुस्तकों और पकौड़ियों में अन्तर है—एक पकौड़ी एक ही आदमी खाता है, परन्तु एक पुस्तक तीन सौ पाठक पढ़ सकते हैं। बहरहाल, उस समय यही निश्चय किया कि अपनी कहानियों का दूसरा संग्रह निकालने के बजाय 'टूटे हुये दिल' का दूसरा संस्करण निकले। मैनेजर साहब ने यह भी बताया, कोई बता रहा था, हिन्दी के कुछ लेखक भूमिका से बहुत नाराज़ हैं। एक महाशय ने तो यहाँ तक कहा—पुस्तक 'रिवियु' के लिये आने दो, रगड़कर रख दूँगा। चुनाँचे अब समस्या बिल्कुल बदल चुकी थी। मैंने ख़ुद से कहा, डटे रहो। लेकिन अपनी सफ़ाई में कुछ न कुछ कहना ही था—

प्रश्न वाजिबन पूछा जा सकता है, क्या यह ज़रूरी है कि कहानियों का संग्रह पाठकों के सामने उपस्थित करते समय भाषा की समस्या या इस प्रकार के दूसरे जटिल प्रश्नों पर झगड़े छेड़े जायँ, और इस बहाने लम्बे लम्बे निबंध रंगे जाँय ? सफ़ाई में मुझे अर्ज़ करना है : एक ज़माने से इस प्रकार की गूढ़ बहसें केवल विशेषज्ञों के दरमियान होती रही हैं, और साथ-साथ यह भी स्पष्ट है कि ऐसे प्रश्नों पर बहुत कम किसी स्थायी अथवा निश्चित निष्कर्षों पर हम अभी तक पहुँच सके हैं। मैं

समझता हूँ इसका विशेष कारण यह है कि इस तरह के वादविवाद आम तौर से अख़बारों और पत्रिकाओं में ही होते रहे हैं, और इन बहसों में हिस्सा लेने वाले भी वही विशेषज्ञ होते हैं जो वास्तव में इस क़िस्म के झगड़े खड़े करते हैं। जहाँ तक पाठकों का सवाल था, उन्होंने इन झगड़ों की ओर कभी अधिक ध्यान भी नहीं दिया। प्रायः होता यह है कि अख़बारों और पत्रिकाओं के पढ़ने वाले ख़बरें, कहानियाँ, कवितायें और दूसरे मनोरंजक विषय पढ़कर आगे गुज़र जाते हैं। ऐसा होता क्यों है? इसकी वजह यह है कि विशेष समस्याओं पर आमतौर से जो बहसें होती हैं वे ऐसी भाषा में और इस ढंग से होती हैं कि वे साधारण पाठकों के वास्ते दिलचस्पी नहीं पैदा कर सकतीं। परिणाम स्वरूप, यह वादविवाद विशेषज्ञों के वास्ते ही होकर रह जाते हैं। और जहाँ तक विशेषज्ञों का प्रश्न है, इन समस्याओं पर चूँकि उनके विचार बने बनाये होते हैं, इसलिये बहस का असर उनके ऊपर नहीं के बराबर होता है। इक्के दुक्के जो इन लेखों को पढ़ भी लेते हैं वे भी इनसे लाभ नहीं उठा पाते क्योंकि वे इन्हें एक प्रकार की केवल कठ हुज्जती समझते हैं, जिनमें विरोधी दलों को चूँकि विषय के दोनों पहलुवों पर कुछ न कुछ कहना है इसलिये कह रहे हैं। इस तरह के निबंध लिखने वाले अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण का प्रदर्शन करते समय अपने को किसी मात्रा में प्रगतिशीलता का गुनहगार नहीं होने देते। परिणाम यह होता है कि इस तरह के मानसिक वाद-विवाद उस कुश्ती या दङ्गल का रूप ग्रहण कर लेते हैं जिसमें पहलवानों को हम नेहायत ही रुस्तमाना ढंग से एक दूसरे को सलाम करते और हाथ मिलाते हुये अखाड़े में उतरते देखते हैं, फिर कुश्ती शुरू होती है और कुश्ती देर तक होती रहती है। किन्तु उस कुश्ती का प्रायः कोई नतीजा नहीं निकलता। पहलवान शुरू से आख़ीर तक पैंतरे बदलते रहते हैं। बहादुरी से ताल ठोंकते हैं, उछलते कूदते हैं, एक दूसरे के नज़दीक आते हैं, ज़ोर भी आज़माते हैं,

लेकिन फिर किस सफ़ाई से एक दूसरे की पकड़ से छूटकर निकल जाते हैं। पंचों की राय में कुश्ती बराबर की छूटती है। 'चवन्नी पब्लिक' तालियाँ पीटती रह जाती है। आप जानते हैं, कभी कभी ऐसी कुश्ती के अन्त में दंगे भी हो जाते हैं, जब तमाशबीनों को यह शुबहा हो जाता है कि पहलवान आपस में मिले हुये थे !

साहित्यिक समस्याओं पर भी इसी ढंग की बहसें होती हमने देखी हैं। उदाहरण स्वरूप, आप पत्रिकाओं के पन्ने उलट कर ऐसे प्रश्नों पर लेख पढ़िये, जैसे 'कला कला के लिये अथवा कला जीवन के लिये', प्रगतिशील साहित्य, हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी का प्रश्न, समाजवादी झगड़े, इत्यादि। इस प्रकार की साहित्यिक अथवा बौद्धिक समस्याओं पर पढ़े लिखे और सूझ बूझ रखने वालों के दरमियान मतभेद होना आवश्यक है। किन्तु ऐसी बहसों के लाभप्रद साबित होने की जभी सम्भावना हो सकती है जब कि बहसों के दौरान में आप कुछ हमारी मानते चलिये और कुछ हम आपकी मानते चलें, ताकि इस तरह सत्य और यथार्थ के समीप हम आप दोनों शनैः शनैः पहुँचते जाँय। इस निगोड़ी पूँजीवादी अख़बारी दुनियाँ में 'सत्य' तक पहुँचना यों भी कितना कठिन बना दिया गया है। वास्तव में सूरत इतनी बिगड़ी हुई है कि हमें यह भी तो नहीं मालूम कि सत्य है क्या। उदाहरण स्वरूप, दो आने का कोई अख़बार ख़रीद लीजिये और पढ़ना आरम्भ कीजिये। प्रथम पृष्ट पर लड़ाई की ख़बरें मिलेंगी, जिनमें पचास फ़ीसदी से झुठाई ज़्यादा न हो तो ग़नीमत समझिये। आगे बढ़िये। द्वितीय पृष्ट पर शादियों, नौकरियों और दवाओं के नुस्ख़े मिलेंगे, जिनके बारे में, व्यक्तिगत अनुभव न होते हुये भी, आसानी से कह सकते हैं कि वास्तविकता विज्ञापन से ९० फ़ीसदी से कम विभिन्न नहीं होती। इसी तरह अख़बार के शेष पृष्ट भी भिन्न भिन्न ख़ुराफ़ात से भरे मिलेंगे। चुनाँचे आज के जीवन में, सच पूछिये तो, सत्य तथा सच्चाई की खोज ही एक नेहायत अर्थ हीन प्रयत्न है। इसके

अतिरिक्त, सत्य ऐसी वस्तु भी नहीं जिसकी ओर गाँधी जी लंगोटी बाँधे अपने डंडे से इशारा कर रहे हैं—"चले जाइये, खाई के उस पार, जंगल के बीच में फ़लाँ दरख़्त के नीचे पत्थर से दबा हुआ सत्य का नुसख़ा रखा है।" वास्तव में सत्य न तो इस प्रकार की कोई ख़ालिस बूटी है और न वह इस तरह कहीं धरा धराया मिल सकता है। और ग़ज़ब तो यह कि अगर मिल भी जाय तो शायद उसका असर मानव जीवन और उसके कल्याण पर उतना निश्चय और विश्वव्यापी न हो जैसा आप और हम आजतक सोचते आये हैं।

हिन्दी उर्दू के झगड़ों में भाग लेने वालों को विशेष रूप से मैं इस भाव से सोचने और समझने का निमंत्रण देता हूँ। स्वयं मुझे यह दृष्टि कोण पैदा करने में समाज शास्त्रों के अध्ययन और उनके मानसिक अनुशासन से बहुत मदद मिली है। समाज शास्त्रों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सत्य कोई निर्पेक्ष वस्तु नहीं, बल्कि सापक्षिता अधिक गंभीर वास्तविकता है। सत्य न तो हमें एक जगह और न किसी एक दृष्टिकोण में मिल सकता है। बल्कि सत्य स्वयं एक बिखरित और गत्यात्मक वास्तविकता है। चुनाँचे, जब स्वयं सत्य की यह अवस्था और ऐसा रूप है तो किसी का सर फोड़ने के लिये इस से लाठी का काम लेना सत्य के साथ कितना अन्याय करना है।

ख़ैर, यह तो एक प्रकार की अप्रासंगिक बात रही। वास्तव में जो बात कह रहा था वह यह थी कि अभी तक साहित्यिक विषयों पर वादविवाद इस ढंग से होते रहे हैं कि उनसे न तो जनता लाभ उठा सकती थी और न विशेषज्ञ ख़ुद एक दूसरे की बातों से अधिक सीख सकते थे। तात्पर्य यह कि इस तरह की बहसें आम तौर से बेमानी और बेमतलब माथा-पच्ची हो जाती है। परन्तु चूँकि यह युग प्रजातंत्र युग है और भविष्य जन साधारण का है इसलिये अब यह आवश्यक है कि इन समस्याओं पर जनता ख़ुद सोचे, ग़ौर करे और अपने सोचे हुये नतीजों पर पहुँचे। लेकिन ज़ाहिर है हमारी मदद के बिना वे ऐसा नहीं कर सकते।

इसी विचार से मैंने 'अपनी और पराई बात' ऐसी भाषा में और इस ढंग से लिखी कि एक गूढ़ समस्या की ओर भी साधारण पाठक का ध्यान जा सके। जिन लोगों ने अभी तक मेरी किताब (टूटे हुये दिल) पढ़ी है उनका कहना है कि इस प्रयत्न में मुझे एक हद तक सफलता प्राप्त हुई है। अर्थात, जिसने भी किताब पढ़ने को उठाया उसने भूमिका अवश्य पढ़ी (बहुत से ऐसे भी हैं जिन्होंने केवल भूमिका ही पढ़ी, शायद इस कारण कि भूमिका का ज़हर उनके लिये ज़रूरत से ज़्यादा साबित हुआ!)। जो लोग 'अपनी और पराई बात' की वजह से एक तरह से मेरे दुश्मन हो गये हैं खुद उनका कथन है कि भूमिका की भाषा और लिखने की शैली ऐसी थी कि उसने उन्हें पूरा लेख एक सांस में पढ़ने पर एक तरह से बाध्य कर दिया। मैं चाहता भी यही था। मेरी बातों से सम्मत होना न होना दूसरी बात है। मैं केवल यही चाहता था कि पाठक इन समस्याओं की ओर ध्यान दें और स्वयं अपने सोचे हुये निष्कर्षों पर पहुँचें। मेरी आशा थी कि शायद उनके नतीजे कथित विशेषज्ञों से अधिक यथार्थ पूर्ण और कुशल हों।

स्वयं मेरा ऐसा विचार है कि मध्यमवर्ग के कथित बौद्धिकों को जैसे लक़वा मार गया है और हम ऐसे लाभप्रद निष्कर्षों पर पहुँचने से असमर्थ हैं जो, हमारे साथ साथ, जनता के वास्ते भी लाभप्रद हो सकें। ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक है कि हम आज तक जिनके लिये सोचते आये हैं वे अब स्वयं इन समस्याओं पर मनन करें। मुझे विश्वास है, जब ऐसा होने लगेगा तब ऐसे झगड़े, जिनकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, आप से आप हल होने लगेंगे। यही नहीं, बल्कि इसका एक और महत्वपूर्ण नतीजा निकलेगा, जिसका विस्तार यों है—

हमारे बीच विभिन्न कलाकार हैं और वे भिन्न प्रकार की चीज़ें लिखते हैं। हर बड़ा कलाकार अपनी ज़िन्दगी में दर्जनों किताबें लिखता और प्रकाशित करता है। उन किताबों का बिकना वह अपनी लेखनी की

लोक प्रियता समझता है। हिन्दी के साहित्यिकों को प्राय: मैंने अपने आन्तरिक विचारों को इस तरह प्रकट करते सुना है। वास्तव में जो बात वे कहना चाहते हैं उस विषय पर उनके दिमाग़ साफ़ नहीं। उन्हीं के ख़्याल को मैं यहाँ आपके सामने स्पष्ट रूप से प्रकट करने की कोशिश करता हूँ।

आधुनिक अर्थ शास्त्र में यह विषय काफ़ी दिलचस्प और साथ साथ जटिल सूरत अख़्तियार कर चुका है। पूंजीवाद की पैरवी करने वाले अर्थ शास्त्र के कुछ विशेषज्ञों का कहना है कि पूँजीवाद की सबसे बड़ी ख़ूबी यह है कि यहाँ हर आदमी को कोई भी चीज़ ख़रीदने की पूर्ण स्वतंत्रता है, जो रूस या किसी और समाजवादी समाज में जनता को मयस्सर नहीं हो सकती। उनके कहने का मतलब यह कि वैसे तो पूँजीवाद हर तरह की चीज़ें पैदा करता है, लेकिन प्राय: चीज़ें अधिकांश वही पैदा की जाती हैं जिनकी माँग अधिक होती है। समाजवादियों का पूँजीवाद के ख़िलाफ़ यह आपत्ति है कि दुनियाँ में जहाँ ज़्यादा लोगों को दोनों वक़्त खाना और पहनने को कपड़ा नसीब नहीं, वहाँ यह चाण्डाल पूँजीवाद ऐसी व्यर्थ वस्तुएँ पैदा करके परिश्रम, समय और पूँजी नष्ट करता है, जैसे 'अफ़ीम', 'चण्डू', 'हीरोइन' (सबसे विषाक्त नशा जिसकी मदद से जापानी साम्राज्य ने बेचारे चीनियों पर बहुत मात्रा में सफलता प्राप्त की) 'ज़हरीली गैस' 'लिपस्टिक' और 'टैंक' वग़ैरह। पूँजीवादी पैदावार के ढंग की पैरवी करने वालों का यह जवाब है कि पूँजीवाद उन चीज़ों को ज़्यादा बनाकर, जिनकी माँग ख़रीदने वालों की ओर से अधिक है, उस प्रजातंत्र सिद्धान्त का समर्थन और अनुमोदन करता है जिस पर प्रजातंत्र सिद्धान्त और रीति का दारोमदार है। यानी उनकी राय में किसी चीज़ का बाज़ार में बिकना एक तरह से उस चीज़ का 'चुनाव' है। जिसे जो चीज़ ज़्यादा पसन्द है उसे वह ज़्यादा ख़रीदता है, यानी उसे ज़्यादा 'वोट' देता है। अर्थशास्त्र के इन विशेषज्ञों ने इसे ख़रीदारों का चुनाव (Consumers' Election)

बताया है और उनकी राय में सरमायादारी की यह सबसे बड़ी ख़ूबी और ख़सूसियत है।

अब साहित्यकों की बात को फिर से सोचिये और देखिये उनके कथन और इस दलील में कितनी समानता है। उनके कहने का मतलब यह कि अगर उनकी लिखी हुई चीज़ें बिकती हैं तो प्रत्यक्ष है कि उनकी कृतियाँ पढ़ने वाली जनता को पसन्द हैं। ऐसी हालत में यह कहना कि उनकी भाषा कठिन है अथवा लेखनी अर्थहीन होती है या इस तरह के दूसरे सैद्धान्तिक बखेड़े छेड़ना उनकी नज़र में कितना बे मानी है।[1]

बहरहाल इस बहस से यह नतीजा निकालना कि दोनों विचारों का आधार भूल अथवा नासमझी है मुश्किल न होगा। ख़रीदारों के चुनाव इत्यादि की कल्पना व्यर्थ बकवास है। वर्तमान संसार में वही लोग

१—इसी तरह हमारे प्रगतिशील लेखक भी कह सकते हैं कि अगर उनका 'नग्न प्रदर्शन' और 'अश्लील चित्रण' जनता को पसन्द है तो रूढ़िवादियो को क़ब्रों से मुँह निकाल कर नाक भौं चढ़ाने का क्या अधिकार? ज़ाहिर है प्रगतिशीलों की यह दलील पहली दलील से कुछ ऊँची जाती है इसलिये कि प्रगतिशील लेखनी की लोकप्रियता का इस वक्त क्या कहना। हिन्दी में तो सब मटियामेट है—यह कहना मुश्किल है कि किस की किताबें ज़्यादा पढ़ी जाती हैं और किसकी कम (गजब तो यह कि मैं भी पढ़ा जाता हूँ क्योंकि 'टूटे हुये दिल' का पहला संस्करण चार महीनेमें बिक गया)

बहरहाल उर्दू में प्रगतिशील लेखकों का विशेष रूप से बोलबाला है। हिन्दी में भी शायद नये लिखने वाले बुरे नहीं चल रहे हैं। लेकिन जहाँ तक मैं जानता हूँ बिकती सभी हैं परन्तु पढ़ी केवल प्रेमचन्द ही की किताबें जाती हैं। शेष अधिकांश अलमारियाँ सजाने के लिये खरीदी जाती हैं। वैसे तो हिन्दी का बाजार इतना लम्बा चौड़ा है कि जो कुछ लिखा जाता है वह बिक ही जाता है। सम्पन्न हिन्दू घरानों में शादियों में उपहार देने की प्रथा क़ायम रहे, हिन्दी के हर लेखक का सचित्र और सजिल्द संग्रह १५) पर बिक सकता है।

चीज़ें ख़रीद सकते हैं जिनके पास पैसे हैं। जिनके पास पैसे नहीं वे, जैनेन्द्र जी का उपन्यास तो दूर, गुड़ जैसी मीठी चीज़ भी नहीं ख़रीद सकते। इसलिये बिना पैसे वालों का तो सवाल ही नहीं पैदा होता। अब देखना यह है कि पैसे किनके पास हैं। पैसे हैं मध्यम वर्ग और उच्चवर्ग वालों के पास। मध्यम वर्ग के भी तीन हिस्से हैं। निचले मध्यमर्ग वाले इस अवस्था में नहीं कि वे पुस्तकें ख़रीद सकें। पुस्तकें केवल बिचले और ऊपरी मध्यम वर्ग वाले ख़रीद सकते और ख़रीदते हैं। उच्च श्रेणी वाले पुस्तकें आमतौर से पढ़ने के लिये नहीं बल्कि कमरे सजाने और Social distinction के ख़्याल से ख़रीदते हैं। इसलिये इन्हें छोड़िये। रह जाते हैं केवल मध्यम-वर्ग के दो हिस्से। अब यह सवाल उठता है कि आया ये लोग किताबें इसलिये ख़रीदते हैं कि इन्हें कोई ख़ास किताबें पसन्द हैं या बस योंही ख़रीदने के लिये किताबें ख़रीदते हैं। दोनों बातें हैं। प्रथम तो ये लोग किताबें इस वजह से ख़रीदते हैं कि इनके पास फ़ालतू पैसे हैं। खाने पीने, पहनने ओढ़ने, ऐश व आराम की चीज़ें मुहैय्या करने के बाद एकाध किताबें भी ख़रीद लेते हैं। पुस्तकें ख़रीदते समय सिद्धान्तों तथा मूल्यांकन की कोई दूरबीन यह लोग नहीं लिये रहते हैं। बल्कि बहुधा किताबें नहीं किताबों की सजधज ख़रीदते हैं। जो पुस्तक देखने में सुन्दर लगी उसे ख़रीद लिया[२]।

२—किताबों की दुनिया में किताबों की सजधज (get-up) की समस्या इतनी लम्बी चौड़ी हो गई है कि किताब लिखने और छापने वाले दोनों ही इस ख़्याल से परेशान रहते हैं। 'पन्त' जी 'निराला' जी और महादेवी जी हिन्दी में चोटी के कलाकार हैं। लेकिन इन्हें भी इस बात की चिन्ता रहती है कि इनकी किताबें बाजार में इस छवि के साथ आयें कि खरीदने वाला आकर्षित होकर पुस्तक खरीद ही ले। बात ठीक भी है, क्योंकि पुस्तक में क्या लिखा है खरीदने वाला इसे बाद में देखता है। पहले तो वह किताब की सूरत ही देखता है। अगर सूरत पसन्द आई तो

पन्त जी और जोश साहब की किताबें कसरत से बिकती हैं। परन्तु इससे यह नतीजा नहीं निकालना चाहिये कि पाठकों की मन्शा है कि ये लोग वैसी ही भाषा लिखें जैसी आज तक लिखते आये हैं। इसके विपरीत, अगर ये लोग ज़रा आसान ज़बान लिखने लगें तो

ख़रीदी वरना नहीं।

दूसरी बात यह कि हमारे लेखक अपनी पुस्तकें छपाते समय इस बात का भी ख़्याल करते हैं कि बेचनेवाला पुस्तक का काफ़ी विज्ञापन कर सकेगा या नहीं। यानी वह किताब की बिक्री बड़ी से बड़ी तादाद में कर सकेगा। बक़ौल एक किताब बेचने वाले के, किताबें बिकती नहीं बल्कि बेची जाती हैं। यह तो आप जानते ही हैं कि शोहरत उसी चीज की ज़्यादा होती है जिसकी डफली ज़्यादा बजती है। पूँजीवाद का सब से बड़ा साथी विज्ञापन अथवा इश्तहार है। दीवारों पर, सड़कों के किनारे-किनारे, देश के इस कोने से उस कोने तक बड़े-बड़े अक्षरों में लिख दीजिये—'बाजपेयी जी की कहानियाँ पढ़ने से नींद अच्छी आती है'। फिर देखिये बाजपेयी जी लखपती होकर रहते हैं या नहीं।

तीसरी बात यह कि किताबों का बिकना बहुत हद तक इस पर भी निर्भर है कि खरीदारों के दिमाग़ दुरुस्त हैं या नहीं, यानी उनके मूल्य (Values) क्या हैं? वैसे यह बात ज़्यादा मानी नहीं रखती क्योंकि प्रायः हमारे जीवन के मूल्य भी विज्ञापन के बनाये हुये मूल्य हैं। अगर ऐसा न होता तो सिगरेट या बीड़ी पीना आज दुनिया में इतनी बड़ी मुसीबत न होती। बचपन में देखता था। किसी बच्चे को जब एक पैसा मिल जाता तो वह दौड़कर जलेबी या गुड़ की दूकान पर जाता था। आज दस बारह साल के बच्चों को सड़कों पर या गलियों में बीड़ी सिगरेट पीते देखता हूँ। पढ़ी लिखी आधुनिक स्त्रियाँ अति परिश्रम और देख-रेख के बाद बड़े-बड़े नाख़ून उगाती हैं। 'पाउडर' 'रूज़' और 'लिपस्टिक' का क्या कहना, ये तो हमें और आपको भी अच्छे लगते हैं, बेचारी औरतों ही का क्या क़सूर। वास्तव में हमारे जीवन के मूल्य वही होते हैं या हो जाते हैं जो हम आप दिन रात सोते जागते, उठते बैठते, चलते फिरते अपने चारो ओर देखते हैं। ऐसी हालत में आज यह कहना मुश्किल है कि हमारे जीवन के मूल्य हैं क्या।

इनकी किताबों की बिक्री शायद घटने के बजाय बढ़ जाय, और उस हालत में इनके प्रगतिशील विचारों की लाभप्रदता जनता के लिये आज से कई गुना अधिक हो सकती है। लेकिन साथ साथ इसमें भी शुबहा नहीं कि अगर इनमें इस तरह की कोई तब्दीली पैदा हो जाय तो इनके वर्तमान ग्राहकों की गिनती कम भी हो सकती है, क्योंकि 'कोकीन' खाने वाले को 'कोकीन' ही में मज़ा आता है। वास्तव में 'ग्राम्या' के छपने के बाद पन्त जी की पुस्तकों के ग्राहक बहुत हद तक बदल चुके हैं। बिल्कुल यही जोश साहब की किताबों के साथ हो रहा है। चुनांचे इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पुस्तकों की बिक्री सदैव लेखक के विचारों और उसकी भाषा की लोकप्रियता का सबूत नहीं देती। पढ़ने वालों के मुक़ाबिले में लिखने वालों की गिनती अत्यधिक सीमित है। उनमें भी अच्छे लिखने वाले कितने इने-गिने हैं। लड्डू कितना ही मीठा क्यों न हो परन्तु सिर्फ़ लड्डू खाकर कोई कब तक जी सकता है। बेचारा पढ़ने वाला करे तो क्या करे। ऐसी हालत में अच्छी बुरी सभी किताबें बिक जाती हैं।

एक प्रश्न और पैदा होता है। भाषा के प्रश्न पर आज बहस छेड़ना कहाँ तक उचित या अनुचित है, और ख़ास तौर से मैं इस प्रकार की बहस आरम्भ करने का कहाँ तक अधिकारी हूं? जहाँ तक मेरा सवाल है, हिन्दुस्तानी का आदर्श सामने रख कर अच्छा बुरा जो कुछ मुझसे बना मैंने लिखने की कोशिश की। और यह कहते हुये मुझे शर्म नहीं लगती कि किसी प्रकार की आदर्श अथवा प्रशंसनीय भाषा लिखने की सफलता तथा गर्व से मैं मीलों दूर हूँ। वास्तव में अपनी इसी कमी के अनुभव के कारण और आज की लिखी और पढ़ी जाने वाली भाषा से बेचैन होकर मैंने इस प्रश्न को उठाया। हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी के प्रश्न पर अपने तुच्छ विचारों का प्रदर्शन मैं और जगह कर चुका हूँ। वास्तव में गल्प लेखन मेरे वास्ते गल्प कला के बजाय वाजिब और उचित भाषा लिखने का एक निरन्तर अभ्यास रहा है।

वैसे जो कुछ अब तक लिखा उसकी प्रशंसा, व्याकरण की कमज़ोरियों और दूसरी ख़राबियों के बावजूद, दर्जनों हिन्दुस्तानी के उपासकों से पा चुका हूँ। ज़िस जिसने किताब पढ़ी उसने भाषा की विशेष रूप से प्रशंसा की, चाहे वह भाषा हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी या कुछ भी न रही हो। लेकिन मैं स्वयं अपने प्रयत्न तथा सफलता से कदापि सन्तुष्ट नहीं हूँ। शायद हो भी नहीं सकता। क्योंकि जब तक यह निश्चय न हो जाय कि वास्तव में हिन्दुस्तानी है क्या, और उसका उचित और माना हुआ उदाहरण अथवा आदर्श हमारे सामने न आजाय, तब तक शायद कोई भी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। जहाँ तक भविष्य की बात है, मेरी बुद्धि में इसका निश्चय हो जाना एकाध कहानियाँ लिखने से अधिक महत्व रखता है। आज के कहानी लिखने वाले इस संसार में न रहें, आने वाली दुनिया हमारी लिखी हुई कहानियाँ भूल जाय, परंतु यदि हम सबके सामुहिक प्रयत्न से गल्प लिखने की कोई उचित भाषा निश्चित हो गई तो बड़ा काम हो जायगा। साथ साथ, मैं यह भी जानता हूँ कि इस काम का होना भी कहानीकारों और उपन्यासकों ही के बस की बात है। आलोचना की भाषा मुश्किल होती है और एक समय तक सम्भवत: मजबूरन मुश्किल रहेगी। जहाँ तक प्रगतिशील क्या बल्कि क्रान्तिकारी दृष्टिकोण की बात है, हिन्दी में पन्त जी और उर्दू में जोश साहब से बेहतर नमूने हम आसानी से नहीं सोच सकते। परंतु इन लोगों ने शायद यह कोशिश करके देख लिया कि अभी ऊँचे और बारीक विचारों को, चाहे वे कितने ही प्रगतिशील अथवा क्रान्तिकारी क्यों न हों, काव्य की आसान भाषा में परिवर्तित करना आसान काम नहीं। किन्तु इन कठिनाइयों से हमारे साहस कम होने के बजाय बढ़ने चाहिये। कारण यह कि आलोचना बहुत मात्रा में अल्पमत की चीज़ है। और साथ साथ यह जानते हुये कि आने वाली दुनिया में कविता का स्थान और, सम्भवतः महात्म भी, गद्य की तुलना में बहुत कम होगा हमें परेशान

होने का अवसर नहीं[3]। आज भी इस देश में काव्य रचना की तुलना में गद्य की सम्पूर्ण पैदावार कई गुना ज़्यादा है। हालाँकि यह भी सही है

[3]इस दृष्टिकोण से सम्भवतः अधिकांश लोग सहमत न हों, और विशेषकर हिन्दुस्तानी कवि, चाहे वह उर्दू या हिन्दी का हो, यह सुनकर जामे से बाहर हो सकता है। किन्तु, जैसा कि मैंने पहले संकेत किया, ऐसे बुनियादी मामलात में व्यक्तिगत अथवा आत्मगत दृष्टिकोण से सोचना विचारना स्वस्थ तरीक़ा नहीं। अगर काव्य पर गद्य की उच्चता और सर्वप्रियता की अधिक सम्भावना आनेवाली दुनिया में मैं देखता हूँ तो इसका यह मतलब नहीं कि मुझे कवियों से दुश्मनी है, या यह कि चूँकि मैं स्वयं गद्य लिखता हूँ इसलिये बस अब इसी की वकालत करके मुझे बक़िया ज़िन्दगी जीना है। इस मामले में दरअसल पश्चिमीय समालोचकों के दृष्टिकोण की मैं सिर्फ़ पैरवी करना चाहता हूँ। मेरी दृष्टि में वर्तमान जीवन का फैलाव, उसकी पेचीदगियाँ और रंगीनियाँ जिस मात्रा में बढ़ती जा रही हैं उन्हीं अंशों में भविष्य का जीवन काव्य की परिधि से धीरे धीरे बाहर होता जा रहा है। यदि किसी प्रकार का पद्य रह भी जायगा तो वह सम्भवतः उर्दू ग़ज़ल की तरह की कोई चीज़ हो, क्योंकि ग़ज़ल को हमारे जीवन से न आज अधिक वास्ता है न कल रहेगा। परन्तु उस क़िस्म की शायरी से कितनों को दिलचस्पी होगी यह जानने के लिये हमें भविष्य की राह देखने की आवश्यकता नहीं।

इस दलील के अतिरिक्त मेरी समझ में जीवन का स्वर-संगति अथवा साज़ ही धीरे धीरे ग़ैरशायराना अथवा अकाव्यमय होता जा रहा है। बर्नर्डशा ने अपने ड्रामा (Back to Methuselah) के अन्तिम भागों में इस प्रकार के मनुष्यों की सृष्टि की है जो प्रेम और प्यार का नाम सुनकर आश्चर्य करते हैं। यदि समय इस सूची में काव्य को भी शामिल कर दे तो आश्चर्य्य नहीं। वास्तव में किसी समय काव्य की जो विशेषता थी वही अब उसकी कमी या कमज़ोरी साबित हो रही है। जीवन का एक संक्षिप्त काव्यात्मक निरीक्षण लेकर उसे घण्टी की 'टुन' 'टुन' 'टुन' पैदा करनेवाले स्वर की भाषा में रख देना प्रायः कविता कहलाती थी। कवि और कविता से आनन्द उठाने वाले दोनों ही जीवन से पलायित (Escapists) होते थे। आने वाली ज़िन्दगी ऐसी होगी जिससे परिहार करने का सवाल ही नहीं पैदा होगा।

कि आज सन् १९४४ में सम्भवतः हिन्दुस्तान ही ऐसा देश है जहाँ काव्य रचना इस मात्रा में हो रही है जिसकी मिसाल शायद संसार के किसी और भाग में नहीं मिल सकती।[४] बहरहाल अगर मेरी बात न भी

आदमी उस कीचड़ में या फूलों की सेज पर, जो भी हो, खुल कर खेलेगा। उदाहरण स्वरूप, आप रूस और अमेरिका दोनो समाजों को देख सकते हैं और दोनों देशों की पिछले पचीस साल की काव्य की उपज का निरीक्षण कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त, आमतौर से आज तक काव्य का विषय किसी न किसी प्रकार का भावुक अथवा सामाजिक संघर्ष (Social or Emotional Conflict) रहा है, जिसे कवि और कविता सुनने वाले दोनों ही व्यक्तिगत ढंग पर सोचते और अनुभव करते रहे हैं। प्रेम भी इन्हीं में से एक आत्मगत अथवा सामाजिक संघर्ष है। यह कहना जबरदस्ती होगी कि आइन्दा इन्सानी जिन्दगी में ऐसे संघर्ष के अवसर पैदा नहीं होंगे। किन्तु अन्तर इतना अवश्य होगा कि उन अवसरों पर मनुष्य भावात्मक ढंग पर सोचने अथवा रोने गाने की मूर्खता नहीं करेगा। इसके अतिरिक्त, संघर्ष का रूप और उसकी विशेषता भी बदलती चली जायगी, जैसा अब तक होता आया है। उन नये संघर्षों पर जो भावात्मक कविता लिखने की कोशिश करेगा उसकी रचना, चाहे वह जो भी रूप ग्रहण करे, नेहायत ही सपाट चीज़ होगी।

अगर आप यह पूछें कि क्या यही बातें गद्य पर भी लागू नहीं होतीं। तो इसका जवाब है, लागू होती हैं। और इसी वजह से हमारा विश्वास है कि भविष्य के गद्य का विषय 'विक्टरह्यूगो' का Les Miserables न होकर 'ज्वायस' का Ulysses तथा Encyclopaedia Britannica और आज के अखबार होंगे। वास्तव में गद्य की वर्णान्तमक और व्याख्यात्मक विशेषतायें ही गद्य को जीवित रखेंगी। जैसे हर पत्थर निशाने पर नहीं लगता वैसे हर विचार सही नहीं होता। इसलिये अगर मेरी राय आप की नजर में गलत हो तो जरूरी नहीं कि आप मेरे ऊपर पत्थर फेंकने लगें।

[४] इसकी वजह शायद यह है कि जहाँ और देशों में आदमियों को करने के बहुत काम हैं यहाँ के लोग कितने मजबूर और बेकार हैं।

मानी जाय तब भी शायद इससे किसी को इन्कार न हो कि गद्य का महत्त्व और उसका आकार भविष्य में बढ़ता ही जायगा। ऐसी अवस्था

मुल्क पर हुकूमत चूँकि दूसरों की है इसलिये किसी बड़े पैमाने पर राष्ट्र का आर्थिक तथा सामाजिक जीवन सुधारने का सवाल पैदा ही नहीं होता। सामाजिक जीवन जिस घटिया क़िस्म का है वह हमारे आपके सामने है। इसके मुक़ाबले में दुनिया के और हिस्सों को आप देख सकते हैं। मानवता, घुटनों ही के बल क्यों न सही, चल कर आगे बढ़ने का प्रयत्न कर रही है। यह स्वीकार करने में शायद आपको आपत्ति न हो कि इस सामाजिक विफलता का असर आदमियों की मानसिक प्रकृति पर पड़ना अनिवार्य है। अनपढ़ों गँवारों का मानसिक जीवन ही क्या। पढ़े लिखों की आत्माओं पर भी विफलता के काले बादल छाये हुये हैं। ऐसी असहाय परिस्थिति में जो क़लम उठा कर लिखने का साहस करता है उसके लिये कविता लिखने से और कोई आसान साधन नहीं देख पड़ता। चुनांचे जिसे देखिये कवि बना हुआ है। आज कविता लिखने की तुलना में गद्य लिखना मुश्किल काम है। गद्य लिखते समय एक मात्रा में यथार्थवादी होना आवश्यक है। परन्तु यथार्थ का चित्रण करने में हुकूमत का डर है, स्वयं समाज का डर है और धर्म का भी भय है। गद्य में कहानी लिखना सम्भवतः सब से आसान है। चुनांचे देखिये हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं में हर साल हज़ारों लाखों कहानियाँ हमारे सामने रेलती हुई चली आरही हैं, चाहे वे कहानियाँ हों या न हों। उपन्यास लिखना इससे कठिन है। इसलिये प्रेमचन्द के बाद ऐसा लगता है मानों उपन्यास ख़तम ही हो गये। हिन्दी में कुछ लिखने वाले हैं भी, परन्तु उर्दू में वह भी नहीं। इसके बाद ड्रामा आता है। 'आल इण्डिया रेडियो' के ड्रामे सुनकर आप अन्दाजा लगा सकते हैं कि हम किस कोटि के ड्रामे लिखने की योग्यता रखते हैं। निबन्धों की भी ऐसी ही दरिद्रता है। ले दे के कविता रह गई सो उसका भी हाल यह है: पन्त जी मौन हैं। निराला जी के 'काँटे' इत्यादि के तमाशे देखकर प्रशंसा कम उन के प्रति सहानुभूति अधिक होती है। महादेवी जी तस्वीरें बना रही हैं। भगवती बाबू सिनेमा में हैं। नरेन्द्र भी वहीं सात सौ महीना कमा रहे हैं। बच्चन जी की हाल की कवितायें जैसे काटने को दौड़ती हैं। रामकुमार जी रेशमी टाई पहनने के बजाय लिख रहे

में गद्य लिखने वालों का एक प्रकार का ऐतिहासिक कर्त्तव्य हो जाता है कि वे देश तथा राष्ट्र को ऐसी भाषा दें जो भविष्य की भाषा हो सके। इस मार्ग में गल्प लेखकों और उपन्यासकों की सेवा ही असली सेवा होगी। और, जैसा कि मैंने पहले कहा, यह सेवा चन्द कहानियाँ अथवा उपन्यास लिखने से ज़्यादा ठोस और पायदार सेवा होगी। इसी विचार के आधीन मैंने भाषा के प्रश्न पर कहानी संग्रह की भूमिका में बहस छेड़ने की ज़रूरत महसूस की। इन्हीं विचारों के आधार पर मैंने 'अपनी और पराई बात' लिखी, जो 'टूटे हुये दिल' की भूमिका के रूप में प्रकाशित हुई। मेरी छोटी बुद्धि को जो बातें बड़ी अथवा महत्व-पूर्ण लगीं उनकी ओर भूमिका में संकेत किया। हो सकता है, चूँकि साहित्य के क्षेत्र में मैं बिल्कुल नया था, मुझे छोटी चीज़ें बड़ी और बड़ी समस्यायें छोटी लगी हों। यह भी सम्भव है कि बहुत सी चीज़ों को मैंने ग़लत समझा हो। व्यक्तिगत अनुभव के समान चीज़ों के समझने बूझने का और कोई साधन नहीं। स्पष्ट है साहित्य के क्षेत्र में मेरा व्यक्तिगत अनुभव शून्य के बराबर था। मुझसे एक दिन भी पहले जिसने साहित्य की सेवा करने के उद्देश्य से लेखनी उठाई हो उसको मैं अपना पथ प्रदर्शक मानने को तैय्यार था और हूँ। आदमी गाता वही है जो उसे आता है। अगर मेरा गाना बिल्कुल बेसुरा अथवा असमय था तो उस पर किसी को ध्यान देने की ज़रूरत ही क्या थी। जिस लेखनी के पीछे कोई तत्व तथा महत्व नहीं

हैं। पुराने लोग पहले ही अपनी क़ब्रें खोद चुके थे। नयों की क़ब्रें समय खोद रहा है। फिर भी सामूहिक रूप से यदि आप देखते हैं तो कहानियों के बाद कवितायें ही अधिक लिखी जा रही हैं, चाहे वह हिन्दी या उर्दू में हों। लेकिन कविता का इस पैमाने पर लिखा जाना ही हमारी मानसिक विफलता की गवाही देता है। यदि आप को मेरी बात का यक़ीन नहीं तो उर्दू शायरी के वे हज़ारों संग्रह इकट्ठा कर के देखिये जो मुसलमान शायरों और बादशाहों ने हुकूमत अँग्रेज़ों को सिपुर्द कर के लिखे।

होता वह जीती ही कै दिन है। चुनांचे अगर मेरी बातों में कोई सार नहीं था तो हिन्दी साहित्यकों की नज़र पड़ने से पहले वे प्राकृतिक मृत्यु मर जातीं। परन्तु, इसके विपरीत, हुआ क्या ? जैसे एक प्रकार का हंगामा मच गया हो, मानो किसी ने घर में आग लगादी थी। कारण यह कि इस देश में यों भी मूर्खता की खपत अधिक है, और फिर हिन्दी जगत का क्या कहना। अब आप इस बात पर ध्यान दीजिये कि मैंने कहा ही क्या था। बात सिर्फ इतनी थी। हिन्दी लेखकों की भाषा मुझे अच्छी नहीं लगती, अक्सर ये लोग नेहायत ही रूढ़ि वादी होते हैं, इनमें बहुत से जो अपने को महान साहित्यकार समझते हैं इनको साहित्य से विशेष सम्बन्ध नहीं, इत्यादि इत्यादि। बस ! और क्या कहा था ? रहा यह कि अपने अपने कहने का ढंग होता है। हो सकता है मेरे कहने का ढंग कुछ लोगों को खटका हो। किन्तु वह भी कोई बड़ी बात नहीं थी, क्योंकि यदि मेरा ढंग किसी मात्रा में सांस्कृतिक मर्यादा से गिरता हुआ था तो वही मेरी सज़ा भी थी—पाठक पढ़ता या पढ़े बिना पुस्तक अलग फ़ेंक देता।

परन्तु वास्तव में बात तो यह थी कि जितनी बातें मैंने कहीं थीं उनमें से अधिकतर सत्य या सत्य के समीप थीं, क्योंकि सही बात ही से किसी को चोट लगती है। हिन्दी साहित्य और साहित्यकों के बारे में जो कुछ मैंने कहा उन बातों में बहुत कुछ सत्य और यथार्थ था। इसी वजह से मेरी बातों से कुछ लोग मानो बौखला से गये। इसका सबूत इससे भी मिलता है कि गाली देने अथवा ज़हर उगलने के सिवा मेरी किसी भी आलोचना का उचित जवाब किसी ने नहीं दिया। प्रतिक्रियायें आम तौर से वैसी ही हुईं जिसके हमारे लेखक योग्य तथा आदी हैं। किसी ने कहा, किताब बेचने के सब धन्धे हैं। दूसरे ने कहा, प्रकाशक मुसलमान ठहरे इसलिये उन्हें ख़ुश करने के लिये हिन्दी के ख़ेलाफ़ ऐसी बातें कही गई हैं। जब किसी ने इस ओर संकेत किया कि लेखक ने उर्दू और उर्दू वालों की भी आलोचना की है तो

एक सज्जन बोले, "चमगादड़ हैं चमगादड़। न उर्दू के न हिन्दी के...।" इतनी समझ बेचारे में कहाँ कि इस पर विचार करते कि ऐसा कहकर वह मेरी प्रशंसा कर रहे थे, क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है कि इस देश के साहित्य और भाषा की सेवा पक्षपाती बनकर आज नहीं की जा सकती। एक महाशय ने इस बात की भी धमकी दी कि जब पुस्तक 'रिवियु' के वास्ते आयेगी तो रगड़ कर रख दूँगा। यह सुनकर मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि हिन्दी जगत में किताबें 'रिवियु' नहीं की जातीं बल्कि किताबें या किताब लिखने वाले रगड़े जाते हैं—वैसे ही जैसे चर्चिल या अमेरी साहब, सत्य और अहिंसा के ढोंग से प्रभावित न होकर, गांधी जी को आये दिन रगड़ते रहते हैं। गाँधी जी का कथन है, ग़ुलामी का असर आज़ाद होकर भी आसानी से नहीं जाता। चुनांचे अगर बृटिश साम्राज्य से हमें, उपहार स्वरूप, ज़बरदस्ती और धांधलेबाज़ी मिली तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

हिन्दी और उर्दू साहित्य अभी उस मानो में साहित्य नहीं जिन अंशों में हम अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, रूसी और चीनी साहित्य को साहित्य समझते हैं। वैसे तो हिन्दी और उर्दू में काम शुरू हुये कई सौ साल हुए। हज़ारों लेखकों ने दोनों भाषाओं की सेवा कर के अपनी जानें खपा दीं। लेकिन फिर भी जब हम हिन्दी और उर्दू की तुलना विदेशी साहित्यों से करते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी और उर्दू दोनों अभी बहुत अंशों में साहित्य नहीं बल्कि दो भाषायें हैं। वैसे हमारा विश्वास अटल है कि यदि हम इसी प्रकार निरन्तर प्रयत्न करते रहे तो हिन्दी और उर्दू भी उन्हीं अंशों में साहित्य बन जायँगे जिन अंशों में हम विदेशी साहित्यों को साहित्य समझते हैं।

ऐसी हालत में यह आवश्यक है कि हर आदमी, जिस में जितनी बुद्धि और समझ हो, हिन्दी तथा उर्दू की सेवा करे। जो इस क्षेत्र में पुराने तथा अधिक अनुभवी हैं उनका कर्तव्य है कि वे हमारी सहायता करें। हमें हमारी त्रुटियाँ बतायें, ख़ूबियों के लिये पुरस्कार दें ताकि

उत्साहित हो कर हम आगे बढ़ें। किसी साहित्य के बनने और संवरने का यही एक ढंग है। इसके विपरीत, हिन्दी में जो तमाशे हो रहे हैं और होते आये हैं अब उनकी तरफ़ ध्यान दीजिये और आश्चर्य कीजिये।

अगर आप कभी नैपाल गये हों तो आप ने देखा होगा पहाड़ों पर चढ़ने के लिये एक प्रकार का खटोला होता है, जिस पर यात्री को बैठा कर भोटिये लोग ऊपर पहाड़ों पर चढ़ते चले जाते हैं। इस तरह की यात्रा ख़तरे से ख़ाली नहीं क्योंकि पहाड़ों की ऊँचाई जो होती है वह तो होती ही है। ग़जब यह कि एक तरफ़ ऊँचा पहाड़ और पतले रास्ते के दूसरे हाथ मीलों गहरी खाइयाँ होती हैं। खटोला ऐसा बना होता है कि यदि बहुत संभल कर न बैठिये तो आनन फ़ानन मीलों नीचे जाइये। हिन्दी समालोचना इसी प्रकार की खटोला बन गई है, जिसे हिन्दी समालोचक कन्धों पर लिये फिरते हैं। आपने कुछ लिखा। यदि आप से वे प्रसन्न हैं या उन्हें प्रसन्न करने के साधन आपने ढूँढ़ लिये तब तो आप को उस खटोले पर बैठा कर देखते देखते कहाँ से कहाँ पहुँचा देंगे। फिर आप के सम्बन्ध में प्रायः इस प्रकार के विशेषण सुनने में आने लगेंगे, जैसे 'महाकवि', 'राष्ट्रकवि', 'विश्व-कवि', 'युग प्रवर्तक', इत्यादि इत्यादि। और अगर अभाग्य वश आपसे वे नाराज़ ठहरे या आपने अपनी मूर्खता से जान बूझ कर उन्हें नाराज़ कर दिया (जैसे मैं) तो उसी खटोले पर बैठा कर मीलों नीचे आपको खाई में गिरा दिया जायगा। और फिर आप के बारे में इस तरह की बातें सुनने में आयेंगी, जैसे 'घासलेट अथवा अश्लील साहित्य लिखते हैं', 'निम्न श्रेणी के लेखक हैं', 'हिन्दी का अहित चाहते हैं' इत्यादि। हिन्दी का अहित ऐसी लाठी है जिससे यह लोग किसी को मार सकते हैं। मैंने बहुत समझने की कोशिश की आख़िर कम्बख़्त हिन्दी का हित है क्या। लेकिन समझने से असमर्थ रहा।

हिन्दुओं में माता की धारणा सर्व व्यापी और सर्व शक्तिमान है। जिस चीज़ का सम्मान करने लगते हैं उसको प्रायः माता बना लेते हैं।

चुनांचे हम लोगों में जब देशभक्ति का भाव उत्पन्न हुआ तो हमने समस्त भारत देश को माता बना लिया। बाज़ारों में केलेण्डर और तस्वीरें बिकने लगीं जिनमें भारतवर्ष 'भारत माता' बनकर एक स्त्री के रूप में नज़र आने लगा। इधर कुछ दिनों से हिन्दी से प्रेम बढ़ रहा है। चुनांचे अब हिन्दी भी हमारी माता हुई। और जिस अभागे ने हिन्दी के ख़िलाफ़ कुछ कहा उसने माता के प्रति अश्रद्धा प्रकट की, इसलिये उसकी सज़ा भी उतनी ही कड़ी होनी चाहिये। इस तरह हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि हिन्दी हमारी माता है और इसकी सेवा करने और हित चाहने वाले सब इसके पुजारी, और इसलिये महात्मा हैं। एक महात्मा तो गांधी जी थे जिनके महात्म का बोझ तीस कोटि के लिये यों ही असह हो रहा था। अब इधर देखते देखते हिन्दी में भी कई महात्मा (स्त्रीलिंग और पुल्लिग दोनों ही) पैदा हो गये। कई ने तो साबरमती जैसी छोटी मोटी कुटिया और मठ भी बना लिये हैं। जब यह महान मूर्तियां हिन्दी के विषय पर बोलती हैं तो इनके कंधे, गले और सिर, भाव और श्रद्धा से परिप्लावित होकर, इस तरह हिलते हैं कि उन्हें देखने के बाद इसके सिवाय कोई चारा नहीं रह जाता कि हिन्दी लिखने के बजाय हिन्दी की एक मूर्ति बना कर उसके निकट नत मस्तक स्तुति की जाय।

यह है हिन्दी का हाल, देखकर हँसी आती है और ग़ुस्सा भी आता है। जैसा कि पहले बता चुका हूँ, एक सम्पादक साहब ने पुस्तक की समालोचना लिखते समय मुझे रगड़ने की धमकी दी। जब मैंने यह धांधली देखी तो उन्हें इस तरह धमकाया : 'समालोचक जब किसी पुस्तक पर समालोचना लिखता है तो उस समय केवल पुस्तक का लेखक ही परीक्षा की कसौटी पर नहीं चढ़ता बल्कि साथ साथ समालोचक का भी इम्तहान होता जाता है। समालोचना स्वयं दोधारी तलवार है जिसका ठीक ढंग से प्रयोग न होने पर वह समालोचना के विषय और समालोचक दोनों को साथ साथ काटती है। साहित्य के क्षेत्र में समालोचना

नेहायत ही ज़िम्मेदारी का काम है। यों तो लिखने को समालोचना सभी लिखते हैं। परन्तु अच्छे समालोचक एक ही आध माने जाते हैं। कोई भी लेखनी हो उसे अति गम्भीरता और ईमानदारी से तराज़ू पर रख कर तौलना पड़ता है। सत्य असत्य को अलग अलग करके दूध का दूध पानी का पानी कर दिया जाता है। डांडी आप एक ही आध बार मार सकते हैं। उस बनिये को भी, जो हमेशा डांड़ी मारता रहता है, आख़िर एक दिन दुकान बढ़ानी पड़ती है।' जब मैंने देखा कि हिन्दी में इस तरह की अन्धेर है तो साथ साथ मैंने यह भी कहना शुरू किया कि समालोचकों के मन में जो आये वे लिख डालें। परन्तु यह याद रहे कि मैं दूसरी भूमिका लिखकर सारी बातों का जवाब दूँगा। हिन्दी अथवा उर्दू में रवाज नहीं है कि पुस्तक का लेखक समालोचना के जवाब में कुछ लिखे या कहे। अंग्रेज़ी में अवश्य कभी कभी, जब कोई समालोचक जान बूझकर किसी लेखक को नीचा देखाने के उद्देश्य से उसकी कृति की बुराई करता है, तो लेखक अपनी सफ़ाई में यदि चाहे तो कुछ कहने का अधिकार रखता है। मैं समालोचकों से यह नहीं चाहता था कि वे मेरी प्रशंसा करते। बल्कि जो ख़ामी मुझमें थी उसकी ओर संकेत करना और जिन बातों से वे सहमत नहीं थे उनका संशोधन करना उनका साहित्यिक धर्म था। किन्तु, मैंने कहा, यदि गालियाँ देने के लिये मुझे गालियाँ दी गईं तो न तो मेरे मुँह में दही जमाई थी और न मेरी उगुलियों को लक़्वा मार गया था।

अपने विचारों पर मैं अब भी अटल हूँ। मैंने कहानियाँ लिखीं सो आप के सामने हैं। हिन्दी नहीं जानता यह मैं स्वयं चिल्ला चिल्ला कर कह रहा हूँ। हिन्दी लिख कर सीखने का प्रयत्न कर रहा हूँ। इसके लिये मैं आपकी सहानुभूति का इच्छुक हूँ। भूमिका में मैंने जो बातें लिखीं उन्हें लिखने का मुझे उतना ही अधिकार था जितना आप को उनसे सहमत न होने का है। यदि कोई त्रुटि हुई तो कान ऐंठकर

मुझे आप दुरुस्त कर सकते थे। अगर इससे आप आगे बढ़ते हैं और व्यक्तिगत शत्रुता निभाना चाहते हैं तो जवाब के लिये तैयार रहिये। क़लम की मार है, अन्त में जो जीते। और फिर आदमी आदमी की राय होती है। जो आपको पसन्द वह मुझे नहीं पसन्द। बारह कहानियाँ लिख कर मैंने आपके सामने पेश कीं। जितने मुझे मिले उतनों ने उतनी कहानियाँ पसन्द कीं। नवयुवकों ने 'ज़रीना' की तारीफ़ की। जो लोग थोड़ा बहुत कला इत्यादि से सम्बन्ध रखते थे उन्होंने फ्रांस वाली कहानी पसन्द की। कुछ ने 'गांव की लड़की' की ख़ूबी को सराहा। पत्रिकाओं ने 'ज़िन्दगी का जलूस' को बहुत ऊँची बताया। 'टूटे हुए दिल' की तारीफ़ दो ही तीन आदमियों ने की। 'अधूरी चिट्ठी' के साथ बहुतों को सहानुभूति है। 'शाहजहाँ का स्वप्न' शायद ही किसी ने समझना चाहा। इसी प्रकार और कहानियों की प्रशंसा या बुराई हुई। दस बारह अख़बारों और पत्रिकाओं ने पुस्तक पर समालोचनायें प्रकाशित कीं, जिनमें से, एक को छोड़ कर[५], लगभग सबने

---

[५]यह एक है एलाहाबाद की 'सरस्वती'। चिन्तामणि घोष ने जब पुस्तकों का व्यवसाय आरम्भ करने को सोचा तो साथ साथ सम्भवतः हिन्दी की सेवा करने के उद्देश्य से उन्होंने एक मासिक पत्रिका भी निकाली जो 'सरस्वती' के रूप में आज भी जीवित है। इसके संपादक थे स्वर्गीय पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी। कभी बाँस की जड़ में रेंड़ उगते हैं। इण्डियन प्रेस में एक 'काबुक' है जिसमें तीन चार भलेमानुस, दुनिया से नाराज़, बैठे 'गुटरगूँ गुटरगूँ' किया करते हैं। जीवन से इन्हें विशेष शिकायत यह है कि इनकी तनख़ाहें बहुत कम हैं। चुनांचे दुनिया की खुशहाली इनसे देखी नहीं जाती। काम इनका है साहित्य और कला पर राय प्रकट करना। साहित्य और कला से दूर, ऐसों की राय जै कौड़ी की हो सकती है स्पष्ट है। बूढ़ी औरतों की तरह दुनिया को देखकर नाक भौं सिकोड़ना इनका दृष्टिकोण बनकर रह गया है। साहित्यकार अपने सिवाय दूसरे को मानते नहीं। चुनांचे पन्त जी—'बस ऐसे ही हैं', निराला जी—'हिन्दी साहित्य

संग्रह का स्वागत किया। भूमिका की किसी ने विशेष रूप से विरोध नहीं किया। पत्रिकाओं में समालोचना के अतिरिक्त, मेरे पास बहुत से ऐसे पत्र भी आये जिनमें लोगों ने मेरे विचारों से सम्पूर्ण रूप से सम्मति प्रकट की। कुछ ने तो इसकी भी शिकायत की कि यदि लिखने के लिये क़लम ही उठाया था तो बातें और साफ़ तथा ज़ोर देकर क्यों नहीं लिखीं।

को चौपट कर रहे हैं' इत्यादि इत्यादि। इस प्रकार की इनकी रायें होती हैं।

इस बात से इन्हें ख़ास चिढ़ है कि किसी को 'सोफ़ा' नसीब क्यों होता जब इन्हें पीढ़े भी मयस्सर नहीं। अक्सर जब किसी की कृति पर टिप्पणी करते हैं तो इस बात का पता लगा लेते हैं कि प्रस्तुत पुस्तक 'सोफ़े' पर बैठ कर लिखी गई या चटाई पर। किसी तरह इन्होंने मालूम कर लिया कि मेरे पास भी एक कहने सुनने को सोफ़ा है। चुनांचे झट इस बात को समालोचना में दर्ज कर दिया गया कि मैं सोफ़े पर बैठ कर सोचता और लिखता हूँ। 'धूनी' बाबू इतने दानशील नहीं ठहरे वरना इन लोगों को एक एक सोफ़ा उपहार स्वरूप दिलाकर देखता कि ये लोग सोफ़े पर बैठते हैं या उसके नीचे।

ख़ैर, इन महानुभावों ने मिलकर यह 'फतवा' दिया कि जो कुछ मैंने लिखा वह फ़ज़ूल और ख़ुराफ़ात है। मैं नेहायत बेमसरफ़ और बेढंगा आदमी हूँ, इत्यादि। (पढ़िये 'सरस्वती' मई सन् १९४४) टिप्पणी पढ़िये और फिर मेरी मूर्खता पर मुस्कराइये या इनकी मूर्खता पर। बहरहाल किसी न किसी की मूर्खता पर आपको मुस्कराना ज़रूर पड़ेगा, क्योंकि अगर यह मान लिया जाता कि थोड़ा मूर्ख मैं हूँ और थोड़े ये हैं तो काम चल जाता। लेकिन इनका कथन है कि मैं ही बिल्कुल मूर्ख हूं—यानी कहानियाँ ख़राब, विचार भोंड़े, भूमिका बकवास, मैं वाहियात।

और समालोचनायें पढ़ता हूँ तो दूसरे ऐसे कहते नज़र नहीं आते, हालांकि टिप्पणी लिखने वाले सब मेरे दोस्त नहीं थे। ऐसी हालत में मेरे लिये तो आसान नहीं कि दस आदमियों को मूर्ख मानकर इन्हें बुद्धिशील होने का उपाधिपत्र दे दूँ। जहाँ तक आप लोगों की बात है, आप से मैं यही प्रार्थना करूँगा कि आप मुझे बेवक़ूफ़ मान लीजिये और इन्हें बुद्धिमान, क्योंकि ऐसी ही तुकी या बेतुकी बातें लिख कर यह लोग साहित्यिक और समालोचक कहलाना चाहते हैं!

दुनिया विचित्र है और इसके तरीक़े और भी विचित्र हैं। वरना मुझे उन लोगों के यहाँ नाम गिनाने से बढ़कर क्या .खुशी हो सकती थी जिन्होंने मुझे इस तरह के पत्र लिखे या मुझसे ऐसी बातें कहीं। किन्तु सत्य ने अभी तक इतनी शक्ति नहीं प्राप्त की कि वह स्वयं सत्य बोलने वालों की रक्षा कर सके। बहुत सी सच बातें हम आप घर में कह लेते हैं लेकिन उन्हीं को सड़क पर या किसी के सामने नहीं कहना चाहते। बहरहाल, इतना अवश्य कहूँगा कि वे हिन्दी में ऐसे नाम हैं जो बहुतेरे हिन्दी वालों को चुप कर सकते हैं।

वास्तव में मुझे न तो अपनी सफ़ाई में कुछ कहने की आवश्यकता है और न कोई बात वापस लेनी है। सिर्फ यह कहना है कि बहुत सी बातें मैंने केवल मज़ाक़ में लिखी थीं। हो सकता है, जिन लोगों ने उन्हें मज़ाक न समझकर गम्भीर बातें समझी हों, उन लोगों को सम्भवतः आघात पहुँचा हो। अगर कुछ ऐसे लोग हैं जिन्हें मेरी बातों से दुःख हुआ तो उनसे अवश्य क्षमा माँगना चाहूँगा। परन्तु साथ साथ यह अवश्य कहने की आज्ञा चाहूँगा कि हास्य को हास्य न समझना हास्य की कमी का प्रदर्शन है। यह तो आप जानते ही हैं कि वही मज़ाक असर करता है जिसके पीछे कुछ यथार्थ हो, वरना मज़ाक मज़ाक हुआ ही नहीं। जैसे मैं कहूँ "वाह साहब आप ख़ूब बन्दर निकले"। यदि आप ने बन्दर जैसी कोई हरकत न की हो और न बन्दर जैसी आपकी शक्ल हो तो इसे हास्य आप कैसे समझेंगे ? लेकिन मुसीबत तो यह कि हिन्दी वाले इसी प्रकार के सपाट मज़ाक करते हैं। अभी हाल की बात सुनाता हूँ। एक महाशय, जो हिन्दी के लेखक हैं, बातों के सिलसिले में बोले—'मेरी सायकिल इतनी पुरानी हो गई है कि जी चाहता है उसे 'मिलिटरी' को नीलाम करदूँ"। कह कर बड़े ज़ोर से ठहाका मार कर हँसे। चार पाँच आदमी वहाँ बैठे थे, हम सबको भी मुस्कराना पड़ा। लेकिन समझ में नहीं आया कि यह मज़ाक किस तरफ़ से हुआ। यह तो सुना था कि फ़ौज का सामान जब पुराना हो

जाता है तो पब्लिक के हाथ नीलाम कर दिया जाता है। परन्तु पुराना माल फ़ौज के हाथ नीलाम होते नहीं सुना।

इसी को मैं हिन्दी जगत में Sense of Humour की कमी कहता हूँ। भविष्य में, इसके अतिरिक्त कोई उपाय न रहा कि जब कोई हास्य की बात लिखूँ तो उस वाक्य के अन्त में 'ब्रेकट' में शब्द 'हास्य' लिख दिया करूँ, ताकि पढ़ने वाला साफ़ साफ़ समझ ले कि वह हास्य है!

अपनी कहानियों और अपनी 'योग्यता' अथवा 'प्रभुत्व' के बारे में अब भी मुझे कुछ नहीं कहना है। पुस्तक का दूसरा संस्करण निकालने का कारण केवल एक है, यानी पैसा कमाना। चूंकि पुस्तक की माँग है इसलिये काग़ज़ की कमी के बावजूद इसे छाप कर आपकी सेवा में पेश कर रहा हूँ। कहानियों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया है। यह ज़रूर है कि जब कभी कुछ करने को नहीं रहता तो अपनी ही पुस्तक उठाकर कहीं कहीं से पढ़ता था। चूंकि मानसिक विकास शायद बिल्कुल रुक नहीं गया, इसलिये जो चीज़ कल लिखी थी वह फिर से देखने पर पूर्ण नहीं लगती। इसलिये पढ़ते पढ़ते भाषा की बहुत सी त्रुटियाँ शुद्ध करता रहा, हालाँकि जो अब भी रह जाती हैं वह इतनी हैं कि उनके शर्म से कभी मुक्त नहीं हो सकता।

इस विचार से कि जो लोग पहला संस्करण पढ़ चुके हैं वे दूसरा नहीं पढ़ेंगे 'अपनी और पराई बात' पुस्तक के अन्त में रखे दे रहा हूँ ताकि पढ़ने वाले को इस लम्बी बकवास का सर पैर मालूम हो सके।

१ जून, सन् १९४४
२२ कचेहरी रोड,
इलाहाबाद।

रामप्रताप बहादुर

VILLEGE GIRL.

गाँव की लड़की— گاؤں کی لڑکی

सड़क से मिला हुआ वह गाँव है। सड़क से ही दो बड़े बड़े महुए के पेड़ दिखाई देते हैं। पेड़ गाँव को जाने वाली पगडंडी के पास ही हैं। खेत में एक जगह खड़े हुए वे ऐसे लगते हैं मानो आपस में परामर्श कर रहे हों। महुए के ये पेड़ बहुत बड़े बड़े हैं किन्तु फिर भी एक दूसरे से छोटाई बड़ाई इन्होंने क़ायम रक्खी है। बायीं ओर घूम कर देखिये। आम के दो ऊँचे ऊँचे पेड़ भी दिखाई पड़ते हैं। आयु और आकार में आम के पेड़ महुए के पेड़ों के साथी लगते हैं और ये चारों पेड़ देखने वाले को ऐसे मालूम होते हैं मानो उस समय के भटके हुए मुसाफ़िर हैं जब पृथ्वी पर मनुष्य का निवास नहीं था।

गाँव के जीवन में हर छोटी बड़ी चीज़ किसी दैवी शक्ति के बल पर जीती मालूम पड़ती है। चुनांचे पगडंडी के दाहिनी ओर धतूरे की झाड़ियों में छिपे हुए डीह बाबा का स्थान है। मिट्टी के बने हुए हाथी के सूंड वाले डीह बाबा इन पेड़ों की रखवाली करते हैं।

और आगे बढ़िये तो ज़मींदारों के चार आलीशान मकान मिलते हैं जो आम और महुए के बड़े बड़े पेड़ों का असर मस्तिष्क कर क़ायम

रखते हैं। ज़मींदारों के मकानों के पीछे तीन इमली के बड़े हरे भरे पेड़ एक हरी पृष्ठ-भूमि बनाये हुए हैं।

इन ऊंचाइयों की दुनिया में फूस के झोपड़ों की पस्त आबादी पर शायद किसी की नज़र भी न जाती। किन्तु गन्दे पानी का बड़ा पोखरा छोटे घरों की आबादी को गाँव की पहली दुनिया से इस तरह अलग कर देता है कि पोखरे के किनारे पर वह निम्न कोटि की बस्ती स्पष्ट दिखाई पड़ती है। आख़िर उन दोनों बस्तियों के बीच उस पोखरे की क्या ज़रूरत? इस सवाल का जवाब सुअरों के उस झुण्ड से मिलता है जो पोखरे के उस सिरे पर हरी काई खाते दिखाई पड़ते हैं।

हिन्दुओं की प्राचीन निर्माण-कला के अनुसार गाँव की चमरौटी दक्षिण और पश्चिम कोने पर होती है। इस कोने से साल के किसी भी मौसिम में वायु चमारों के जीवन की दुर्गन्ध गाँव में बहा कर नहीं ला सकती। लेकिन यह चमरौटी गाँव के उत्तर-पश्चिम में बसी हुई है। इस पुरानी भूल के पीछे कोई विशेष अर्थ नहीं सिवाय इसके कि ज़मीन की सतह के लेहाज़ से गाँव का पानी बह कर उसी ओर से नदी को जाता है जहाँ चमरौटी बसी है।

उस दिन ज़मींदार के मकान के सामने कुएँ पर कोहराम मचा हुआ था। कुछ स्त्रियाँ, जो फटे-पुराने कपड़े पहिने थीं, चिल्ला चिल्ला कर रो रही थीं। नौकर चाकर इधर उधर दुबके खड़े थे। कोई भैंस को अँगौछे से झाड़ रहा था तो कोई सुलगते हुए अलाव से ऊपर को उठते हुए धुएँ का रुख़ पशुओं की ओर उड़ा कर कर रहा था। बूढ़ा हलवाहा गाय की आड़ में खड़ा था। रोती चिल्लाती स्त्रियों के बीच गोरे रंग की एक नौजवान लड़की एक बुढ़िया को अपनी गोद में सँभाले बिलक बिलक कर रो रही थी। ज़मींदार का लड़का क्रोध और आवेश में बरामदे में इस सिरे से उस सिरे तक टहल रहा था। दरवाज़े पर काले रंग का छोकरा नंगे बदन सिर झुकाये बैठा था। पूछने पर मालूम हुआ, गाय का दूध चुरा कर किसी ने भूसे की कोठरी में रख

दिया था। ज़मींदार का लड़का कारिन्दे के हाथ से लाठी छीन कर चमार के लौंडे पर टूट पड़ा। अपने पुत्र की मार की ख़बर सुन कर वृद्धा माँ रोती चिल्लाती ज़मींदार के दरवाज़े पर चली आई। ज़मींदार का लड़का भला यह कब बरदाश्त कर सकता था। उसके जूते की एक ही ठोकर ने बुढ़िया को क़रीब क़रीब ठण्डा ही कर दिया था। स्त्रियाँ उसको घेर कर रो-चिल्ला रही थीं।

एक सप्ताह बुढ़िया चारपाई पर पड़ी रही। थाने का सिपाही नित्य आता, ज़मींदार के लड़के से बुढ़िया का हाल कहता और दो रुपये टेंट में रख कर उसे आश्वासन दे जाता, थाने में रपट न होने पायगी। ज़मींदार के लड़के ने दवा दारू के लिए पाँच रुपये चमार के लड़के को दे दिये। बुढ़िया अपने भाग्य या दुर्भाग्य से जी गई। चमार के लौंडे ने बतौर दवा के कुछ दिन शराब पी और थाने के सिपाही के बच्चों ने भी कुछ दिनों इतमीनान से खाया-पिया।

ज़मींदार का लड़का उदार हृदय तथा दानी युवक था। गाँव के ग़रीब लोग ख़ास तौर से उससे प्रसन्न रहते थे। अंधों तथा अपाहिजों के लिये उसने अन्न और वस्त्र का वार्षिक प्रबन्ध कर दिया था। शहर में पढ़ने वाला ज़मींदार का लड़का सिर्फ़ छुट्टियों में ही गाँव आ सकता था। बड़े बाप का बड़ा बेटा था इसलिये खुशामद की बातों में आकर ख़ूब पैसे उड़ाता। ग़रीबों को बिना सूद के अनाज उधार देने की प्रथा उसी ने चलाई थी। शिक्षा का ऐसा प्रभाव पड़ा था कि दीन दुखियों पर विशेष रूप से कृपा-दृष्टि रखता, और चूंकि घर का वही मालिक था इस कारण उसकी स्वाधीनता पर किसी प्रकार की रुकावट नहीं थी। नौकर चाकर यदि उसे कभी फ़ज़ूलख़र्चा से रोकते तो इसी उद्देश्य से कि जोश में आकर सरकार और अधिक ख़र्च करेंगे।

अपने पहाड़ जैसे मकान के बरामदे में चारपाई पर लेटे हुए उसे पिछले कई वर्षों की बातें आज याद आ रही थीं। जिस दिन गाँव आया था उस दिन गाँव में एक विचित्र दुर्घटना हो गई। एक चमार

के पूरे घर ने दाल में ज़हरीली हलदी खा ली थी। शोर मचने पर ज़मींदार का लड़का भी चमरौटी में गया। चमार के आँगन में दीवार की छाँव में बारह-तेरह वर्ष की लड़की धरती पर पड़ी तड़प रही थी। माँ बहिनें भाई सब अलग छटपटा और क़ै कर रहे थे। ज़मींदार के लड़के ने बड़ी हमदर्दी से रोगियों को अपनी बैलगाड़ी पर बैठा कर तहसील के अस्पताल भेजवा दिया।

वही चमार की गोरे रंग की लड़की थी जो उस दिन कुएँ पर बुढ़िया को अपनी जांघों पर लेटाये रो रही थी। वही गोरी लड़की थी जिसपर ज़मींदार का लड़का आज से एक वर्ष पूर्व मोहित हो गया था। आम के बाग़ में डालियाँ फलों से लदी हुई थीं। गाँव के लड़के खेलों में भूले हुए थे। कोयलें पेड़ों की डालियों पर वसन्त की मस्ती में चहक-चहक कर कूक रही थीं। उसी बैशाख की दोपहरी में ज़मींदार का लड़का चमार की गोरी लड़की की शर्मीली निगाहों का शिकार हुआ। वह उसे अपने पास बार बार बुलाता लेकिन चमार की बेटी गांव के राजा के पास आने से हिचकती थी। उसे अपने मकान में बुलाता किन्तु चमार की पुत्री ज़मींदार के जहाज़ जैसे मकान में जाने से डरती थी। एक दिन, दूसरी स्त्रियों के साथ, वही लड़की ज़मींदार के मकान में काम करने गई। कारिन्दे ने उसे कमरे में किसी काम से भेजा। कुछ मिन्टों बाद वह पसीने में डूबी, मैले आँचल से आँसू पोंछती कोठरी से बाहर निकली। दूसरी स्त्रियों ने उसे उड़ती हुई दृष्टि से देखा और काम करने लग गईं। चमार की लड़की ज़मींदार के लड़के की होकर भी दो बातें नहीं भूली थी—उसके काले घुँघराले बाल और चमड़े का मनीबेग!

ज़मींदार का लड़का चारपाई पर लेटा हुआ अपने अतीत की स्मृति ताज़ी कर रहा था। चमार की लड़की उसको कितना प्यार करती थी और वह उसे कितना चाहता था। उसके शहर से आने की बात सुनकर वह किस तरह उसके यहाँ निर्भय चली आती थी।

जिस समय सारा गाँव सोया होता और गाँव के चौकीदार की "सोने वाले जागते रहो" की डरावनी आवाज़ सोने वालों को जगाती और जागने वालों को डराती होती, वह कैसी निडर खेतों और काँटों को पार करती पीछे की चारदीवारी फाँद कर चली आती। जब ज़मींदार का लड़का शहर वापस लौट जाता तो चमार की लड़की गाँव से दूर पोखरे के पास खेत में बैठ कर घंटों रोती। ज़मींदार के लड़के को वह बात भी याद थी। उसे अपनी थाली में खिलाने के लिये वह किस तरह घसीट लाया था और जब चमार की लड़की उसकी हठ और क़समों के बावजूद न मानी तो उसने एक रोटी उसके आँचल में डाल दी, जिसे वह हँसती हँसती खा गई। ज़मींदार के लड़के को वह दोपहर की कड़ी धूप भी याद आ रही थी जब उसने अपने मकान की खिड़की से आँखों में आँसू भर कर चमार की लड़की को लाल चुनरी ओढ़े रोते हुए ससुराल जाते देखा था। उसके मनीबेग में पैसे थे परन्तु चमार की लड़की ससुराल पैदल ही गई। मोटर लारी पर ससुराल नहीं जा सकती थी वरना चमरौटी के चमार उसे बिरादरी से बाहर कर देते। नवयुवक जिस समय इन विचारों में खोया हुआ था कारिन्दे ने आकर कहा—"सरकार, दरवाज़े पर असामी बैठे हैं।" ज़मींदार का लड़का आँसू छिपाता हुआ उठा। अपनी दुर्बलता पर उसे क्रोध आ रहा था। स्वर्गीय पिता का हुक्का, जिसे उस दिन पहली बार भरवाकर पिया था, एक ओर हटाते हुए तेज़ी से बाहर चला गया। कारिन्दे ने गिरती हुई फ़र्शी को सँभाल कर सोचता रह गया—सरकार का गुस्सा अभी उतरा नहीं।

ज़मींदार के लड़के के उभरते हुए स्वाभिमान को भारी ठेस लगी थी। उसके सँवरते हुये व्यक्तित्व के लिए ज़मींदारी के काम में पहली उलझन पैदा हुई थी। उस घटना के कुछ ही दिन बाद वह मोटर लारी की अगली सीट पर बैठा शहर जा रहा था। ज्यों ज्यों वह गाँव से दूर होता जाता, गर्द और लू के साथ रेतीले खेत आँखों के

सामने से उड़ते जाते। चेहरा धूप तथा तीव्र गर्मी के कारण तप रहा था। उस समय भी वही बात मस्तिष्क में थी। उस अवसर पर चमार की लड़की ने गाँव के चमारों का पक्ष क्यों लिया? उसने उसके चाचा के लड़के को अवश्य मारा और ख़ूब मारा पर उसने दूध की चोरी क्यों की थी? और चमार की लड़की जब उसके घर में आती तब चमार का छोकरा उसे देखकर क्यों जलता था। तो उसी बदमाश लौंडे के लिये रो रही थी? सोचते-सोचते मानो उसने संकल्प किया—इन चमारों को पीस कर रख दूँगा।

बग़ल की सीट पर गाँव का ब्राह्मण मुखिया बैठा था। ज़मींदार के लड़के को शहर पहुँचाने जा रहा था। कोई स्वार्थ ही होगा—शायद खेत लेना चाहता हो। मुखिया चतुर और अनुभवी आदमी था। ज़मींदार के लड़के के चेहरे पर जो व्यग्रता स्पष्ट थी उससे उसने समझ लिया कि गाँव का स्वामी अभी अपना अपमान भूला नहीं। मौक़ा देख कर कहा—"ये नीच लोग किसी के नहीं होते। आपके पिता कहा करते थे—'ढोल गँवार शूद्र पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी।' नीचों को जितना ही जूतों के नीचे कुचला जाय उतने ही ठीक रहते हैं।" ज़मींदार का लड़का ख़ामोश सुनता रहा, फिर बोला—"महराज, आपका कहना सही है। मैंने इन चमारों को मुँह लगा कर भूल की।" यह कहते कहते मानो आन्तरिक दुर्बलता से उसका सिर झुक गया। मुखिया ने उपदेश जारी रखा—"बाबू, आप लोग तो पढ़ लिख लिये किन्तु पढ़ना लिखना और चीज़ है और राजनीति और।" ज़मींदार के लड़के को अपने ज्ञान तथा योग्यता का प्रमाण देने का अच्छा अवसर मिला। कहने लगा—"नहीं महराज, यह तो मैं भी जानता हूँ कि छोटे छोटे ही होते हैं और बड़े बड़े......" उस समय ज़मींदार का लड़का हाल में पढ़े हुए डारविन के किसी सिद्धान्त को सोच रहा था किन्तु ग्रामीण भाषा में उसे व्यक्त न कर सका। लारी रुक गई। ड्राइवर ने कहा—"उतरिये, पुल आगया। जल्दी गाड़ी ख़ाली कर दीजिये।"

...वैसे तो वर्षगाँठ हर चीज़ की होती है, कुछ मनाई और कुछ नहीं मनाई जाती। कुछ लोग लाख विपत्तियों में भी इन उत्सवों को मना लेते हैं। और कुछ अवसर ऐसे भी होते हैं जिनकी वर्षगाँठ मनाने वालों को समस्त सृष्टि के आनन्द प्राप्त हो सकते हैं किन्तु नहीं मना सकते। ऐसी व्यवस्था और अन्याय को क्या कहिये। किन्तु दुख और हसरत का वह अवसर होता है जब वर्षगाँठ इस कारण नहीं मनाई जा सकती कि जब वह सुवर्ण अवसर आता है तो उसका विषय ही नहीं होता।

वही आम का बाग़ था, वही चमार की गोरे रंग की कुवांरी कन्या। वैसे ही अधपके आम डालियों पर लदे थे। डालियों पर आनन्द की दुनिया में भूली हुई कोयलें वैसे ही कूक रही थीं। वही दिन थे जब एक चितचोर उस बेचारी का दिल चुरा ले गया था। उस स्वतन्त्र मानव पत्ती को कोई चतुर शिकारी घायल कर गया था। लड़की को शिकारी के पिंजरे में क़ैद होने का मलाल न था किन्तु आम के बाग़ में आज छप्पर के नीचे बैठ कर इस वर्षा में आँसू बहाना अत्यधिक खल रहा था और इसलिये वह फूट फूट कर रो रही थी। जेठ के महीने में बहुधा पानी नहीं बरसता। किन्तु उस दिन समय से पहले झड़ी लगी हुई थी। उसकी आँखें इस अवसर पर शायद आँसू न बहातीं किन्तु समय से पूर्व प्रेम का खतोना उजड़ते देखकर कौन न रो देगा? आख़िर रोती न तो करती क्या।

रिमझिम बरसते हुए पानी की ख़ामोशी में लड़की चार टेढ़े खम्भों पर ठहरी हुई झोंपड़ी में बैठी बाग़ से दूर बहती हुई नदी की धारा को देख रही थी। इसी नदी का बहाव कभी उसमें यौवन की अँगड़ाइयों की अनुभूति उत्पन्न करता था! ज़मींदार के लड़के की घुँघराली काली ज़ुल्फ आँखों के सामने नाच रही थी। उसकी एक एक बात उसके मन में चुभ रही थी—"मैं तुम्हें प्यार करता हूँ......बहुत प्यार.....तुम मेरे जीते जी कभी अपने को तुच्छ न समझना......कोई तुम्हें कुछ न कह सकेगा!" किन्तु आज कहने वाले कह रहे थे। गाँव की लड़कियाँ

के ठहाके हृदय को बेध जाते। सब कहतीं—"चली थी रानी बनने... राजा से प्रेम कर रही थी......" वह सोचती, गाँव वालों का कहना ठीक ही है। किन्तु जो बात समझ न सकती थी वह यह थी कि उसका प्रेमी क्यों उससे बिना मिले शहर चला गया। उसने कहा था, सारा जीवन वह उसी का होकर रहेगी। जिस समय नदी के बहते हुए धारे को देख रही थी उसके मस्तिष्क में एक काल्पनिक नाटक हो रहा था। उस समय नाटक के उस स्थल तक वह पहुँच चुकी थी जब चार चमार गन्दे कपड़े में एक शव को लपेटे कन्धों पर लिये नदी के किनारे पहुँच चुके थे। जब लाश जलने लगी तब बेचारी लड़की फूट फूट कर रोने लगी। अभागिनी अपने दुर्भाग्य पर रो रही थी।

यह नहीं कि ज़मींदारी की दौलत में पला हुआ घमण्डी नवयुवक अपनी आयु से प्रभावित नहीं था। उसे बार बार चमार की गोरे रंग की लड़की याद आती। आख़िर याद भी क्यों न आती। वह उसका पहला प्रेम था जिसकी याद को भावुक नवयुवक शेष जीवन आँसुओं से सींचता है। उस लड़की ने अपनी नादानी में चाहे जो किया हो किन्तु उसे इसका विश्वास था कि वह उससे प्रेम करती थी। गाँव वालों से उसे अवश्य घृणा हो गई थी। वह चमारों से भी नफ़रत करने लगा था। किन्तु जब अपने विचारों और स्वप्नों के संसार में खो जाता तो वह अपने को सदैव उसी चमार की लड़की की उभरती हुई जवानी के साथ आम के पेड़ों की आड़ में आँखमिचौनी खेलता हुआ पाता। दिल और दिमाग़ में विचित्र खींचातानी शुरू हो जाती और चेहरे पर मानसिक कशमकश की बूंदें प्रकट हो जातीं। फिर उसे अपनी कमज़ोरी पर ग़ुस्सा आता, अपने अपमान का ख़याल आता। फिर चमार की लड़की को किसी चमार के लड़के के साथ सोच कर उसका क्रोध बढ़ जाता। क्रोध और स्वाभिमान के कष्टप्रद भावों से हारकर फिर वह कोई पुस्तक उठाकर पढ़ने लगता। कभी जर्मन लेखक गटें के 'मैफ़िस्टोफिलीस' के प्रसिद्ध चरित्र के विषय में सोचता,

जिसके समस्त अच्छे इरादों का परिणाम सदा बुरा ही होता था।

समय के साथ-साथ व्यवस्था बदलती है। व्यवस्था के चलाने वाले भी बदल जाते हैं। ज़मींदार के लड़के ने गाँव जाना छोड़ दिया था। दशहरे की कुवारी तहसील के लिये उसका छोटा भाई गाँव आया हुआ था। नए मालिक के आगमन के उपलक्ष में कारिन्दे बड़ी तत्परता से "सगुन" वसूल रहे थे। आज कारिन्दा चमार ही के दरवाज़े पर आ धमका। उसी मकान के आँगन में जाकर एक दिन उसके मालिक ने पूरे परिवार को मौत के मुँह से निकाला था। वही घर था जिस में किसी समय उसके मालिक का सर्वस्व था। पिछली फ़सिल का भी लगान बाक़ी था। चमार ने लाख दुहाइयाँ दीं किन्तु जान न बची। ज़मींदार के दरवाज़े पर हलवाही भी नहीं थी जो लगान तनख्वाह में कट जाता। लाचार होकर चमार घर में जाकर सिर पर हाथ देकर बैठ गया। लड़की की आँखों में आँसू मँडरा रहे थे। माँ बैठी बेटी का उसके अतीत की स्मृति द्वारा सताया जाना अपनी आँखों से देख रही थी। बेटी की बीमारी और दिन-प्रतिदिन घुलते जाने का उसे अलग दुख था। बेटी को ढारस देते हुए उसने उसकी आँखों के आँसू अपने आँचल के कोने से पोंछ दिये। दूसरों के आँसू पोंछते समय प्रायः अपने आँसू बहने लगते हैं। बेटी माँ के आँसू देखकर उठी और चाँदी के नए कर्णफूल लाकर माँ के हाथ में रख दिये। ज़मींदार के लड़के के प्रेम की वह अन्तिम यादगार थे जो बनिये के घर बिक कर लगान के रूप में ज़मींदार के घर वापस लौट गए।

बहुत दिनों के बाद की बात है। जाड़े का मौसम था। सुबह से बदली छाई थी। आकाश की शीतल उदासी नगर के ऊँचे ऊँचे मकानों पर फैली हुई थी। बादल के बड़े बड़े टुकड़े मलीन आकाश से लटके हुए थे। जाड़े में बदली के दिन युवा हृदयों के लिये नरक के समस्त काल्पनिक कष्टों से भी बढ़कर होते हैं। सारे मोहल्ले में सन्नाटा छाया हुआ था। बड़े मकान के नीचे के कमरे में नवयुवक बैठा पढ़ रहा था। ऐसी निस्तब्धता थी मानो घर में कोई और न था।

गली में से किसी ओर से गाने की आवाज़ आने लगी। गाने में दर्द था। सुरीले गाने की कड़ियाँ वायु के झोंकों के साथ खेलती हुई कमरे में प्रवेश कर रही थीं। पुस्तक पढ़ने वाले युवक का हृदय धड़कने लगा। धीरे धीरे कमरा गीत से गूँज उठा। उसकी परेशान आँखें लोहे के छड़ों में से ग़रीबी की मारी सिर फिरी भिखारिन को देख रही थीं, जो गली में खड़ी गाये जा रही थी। मैले-कुचैले कपड़े और फटी झोली लिये पगली भिखारिन गाए जा रही थी और उसकी आँखें, जो कभी सुन्दर रही होंगी, युवक के ऊपर जमी हुई थीं, मानों वह गाने की कड़ियाँ उसी को सुनाने के लिये गाई जा रही थीं। वह ख़ामोश दुबली पतली सूरत को एकटक देख रहा था और गली की ऊँची ऊँची दीवारों से मानो घबरा रहा था। पीछे के दरवाज़े से सफ़ेद साड़ी पहिने हुए एक नवयुवती ने कमरे में प्रवेश किया। दूर अपने विचारों की परेशानी में खोए हुए नवयुवक ने उसके कमरे में प्रवेश करने का अनुभव नहीं किया। नवयुवती ने बढ़कर खिड़की के रास्ते से भिखारिन को एक पैसा दिया। भिखारिन गाती हुई आगे बढ़ गई। सफ़ेद साड़ी वाली नवयुवती को युवक देख रहा था परन्तु उसकी आँखें मानों पथरा गई हों। लड़की निश्चल खड़ी रही। अन्त में युवक ने कहा—"रानी, नौकर को बुलाओ।" रानी उसकी पत्नी थी और विवाह हाल ही में हुआ था। नौकर से युवक ने पूछा—"तुम जानते हो चमार की लड़की कहाँ है?" नौकर उसके गाँव का था। दबे हुए स्वर में उसने जवाब दिया—"बहुत दिन हुए, सरकार, जब आपने गाँव जाना छोड़ दिया तो आठ नौ महीने बाद वह मर गई।" रानी ने परेशानी से पूछा—"कैसे मर गई?" नौकर बाहर गली की ओर देखता हुआ बोला—"उसे······बीमार थी।"

तीनों चुपचाप खड़े थे। सब की आँखें नीचे झुकी हुई थीं। ज़मींदार के लड़के की आँखों के सामने गाँव के बड़े बड़े आम, महुए और इमली के वृक्ष घूम रहे थे—वे वृक्ष जो उस समय के भटके हुए मुसाफ़िर थे जब इस पृथ्वी पर शायद मनुष्य नहीं रहते थे।

Damn'f PAKISTAN

ज़रीना—

ज़रीना ! जिसका यह नाम हो वह सुन्दर होने के सेवाय और कुछ हो ही नहीं सकता, ऐसा कुछ मेरा विश्वास है। केवल नाम याद करने से अधखिली कली की सुगन्ध और सुन्दरता मेरे दिमाग़ में गूँजने लगती है। ज़रीना !! (फिर गले और गालों से खेलते हुए उसके चमकते हुए बुन्दे याद आये। कानों और गालों के ऊपर से होता हुआ सफ़ेद साड़ी का मख़मली काला चूड़ीदार किनारा, उसके चेहरे के अपरमित सौन्दर्य को सीमित करके, मेरे हृदय और मस्तिष्क की दुनिया को तंग बना देता था। मैंने वही एक चेहरा देखा जिसमें नाक ऊपर से धरी हुई चीज़ नहीं मालूम हुई। देखने ही से मालूम पड़ता था कि वह छोटी सी नाक उसके सौन्दर्य का एक कोमलतम भाग थी। और उसमें वह नन्हीं सी शबंती कील ! अब भी जब सोचता हूँ तो वह शीशे की कनी मेरी आँखों में चुभने लगती है। उसके होंठ ऐसे मिले हुए थे मानो आपस में मिलकर चुपके चुपके बातें कर रहे हों। उन होंठों को कभी बनावटी रंग का मोहताज नहीं पाया। गोरे मुखड़े पर काली चंचल आँखों का नृत्य मेरी सोती जागती आत्मा को सदैव दर्शक बनाये रहता था)

ज़रीना !!! हमेशा मुझे इस शब्द से किसी की पतली नाज़ुक कमर की याद आती है, और फिर वह कमर जिसपर उसकी अनुभवहीन जवानी अठखेलियाँ करती चलती थी। लम्बी सुडौल बाँहों को देखकर मेरे स्वार्थी हृदय ने कितनी बार नहीं चाहा कि लता की भाँति वे मुझसे लिपट जायँ। ज़रीना !!!! इस शब्द से मुझे सदैव किसी अधूरी कहानी या अधूरी कविता का ख़याल आता है।

किन्तु वह थी तवायफ़। उसे तवायफ़ ही कहूँगा, क्योंकि इस शब्द में शाही शान की झलक मिलती है। क़ालीन का फ़र्श, मसनद, पानदान और उगालदान—वेश्या उसे नहीं कह सकता, क्योंकि वेश्या कहते समय ऐसा अनुभव करता हूँ मानो उसके साथ अन्याय कर रहा हूँ। इस शब्द में जो ज़हर है, जो कुरूपता है, जो अकिंचनता है वह ज़रीना में नहीं थी। ज़रीना वकील छाप की काली सलीपर पहनती थी; वह वेश्याओं की भाँति चप्पलें नहीं पहनती थी। चप्पलों को सोच कर गाँधी जी की याद आती है और मुझे ऐसा लगता है मानो वेश्याएँ देश की ग़रीबी को पैरों में पहन कर चल रही हैं। काली सलीपर के साथ चली हुई वकालत का ख़याल आता है। ज़रीना सिर से पाँव तक सादगी और सौंदर्य की मूर्ति थी। वह एक खुली हुई पुस्तक थी जिसे हर कोई पढ़ सकता था। ज़रीना बिकती थी, अपने को बेचती नहीं थी। वेश्या को देख कर डर लगता है, नफ़रत होती है; ज़रीना को देखकर आदर करने की इच्छा होती थी और प्रेम बढ़ता था। क्या सुलझी हुई पहेली थी वह जिसमें कोई भी उलझ सकता था।

मेरी उसकी जब पहली बार भेंट हुई तो वह मुझसे थोड़ी ही कम आयु की थी। मैं भी जीवन से अनजान था। वैसे भी विद्यार्थी जीवन में किसी को इतना अवकाश कहाँ कि वह दुनिया के असाधारण भोग-विलास कर सके। लिखने-पढ़ने के दिनों में जब कभी कोमल भावनाएँ तथा इच्छाएँ सिर उठाती हैं तो उन्हें थोड़ी देर के

लिये कल्पनाओं तथा स्वप्नों की फुहार से सींच कर फिर सुखा देना पड़ता है। वह ऐसी अवस्था होती है जब विशेष रूप से कुछ करने को न होते हुए भी हम आवश्यकता से अधिक व्यस्त रहते हैं। यद्यपि दुनिया उस समय तक खेलने के लिये कोई ख़ास खिलौने नहीं देती, जिसके साथ हम खेलने में व्यस्त हों, तथापि हम अपने बचपन के खेलों में इतने अधिक व्यस्त रहते हैं कि देर तक हम किसी और चीज़ की ओर ध्यान दे ही नहीं सकते। यौवन का आरंभ काल चीज़ों के समझने का समय होता है। हर व्यक्ति जो मुझसे एक दिन पहले दुनिया में आया हो वह मुझे रास्ता बताने का अधिकारी होता है। हर तरफ़ से हम पर उपदेशों की बौछार होने लगती है। ऐसी कि यदि सब उपदेशों को मान कर उनके अनुसार चलने लगे तो बच्चा बूढ़ा हो जाय। यह दूसरी बात है कि हम हर चीज़ को उस प्रकार नहीं समझ लेते जैसे हमें बताया जाता है। पर दुनिया में आँख खोलते ही हर आदमी हमारे सामने सर्वज्ञ के रूप में प्रकट होता है। परिणाम-स्वरूप, संसार को हम एक अजायबघर के रूप में पाते हैं। हमारी पहचान के लिये हर चीज़ पर कोई न कोई लेबुल लगी होती है। हमें इससे मतलब नहीं कि आमतौर से कटहल की मोहर इमली पर और महुए की आम पर होती है। दुनिया हमें उपदेशों का अणुवीक्षण यंत्र देती है जिसकी सहायता से हम हर चीज़ देख सकें। हर व्यक्ति हमारे लिये जीवन के मार्ग पर ख़तरों की सूचना देने वाला पथ-प्रदर्शक स्तम्भ बन जाता है। इस चीज़ को मत छुओ, इससे मत बोलो, उससे मत उलझो, उससे मत मिलो, इत्यादि इत्यादि। परिणाम यह होता है कि दुनिया हमारी निगाहों के सामने ख़राबियों तथा बुराइयों का एक ढेर बनकर रह जाती है। रास्ते कम मिलते हैं, बाधायें अधिक। रोड़ों और रुकावटों के सामने हमें सिर झुकाना पड़ता है।

इस प्रकार जवानी की सुबह को जब मैंने देखा तो प्रत्येक वस्तु मेरा मार्ग रोके खड़ी थी। परन्तु मेरे अन्दर एक शक्ति थी जो मुझे

आगे बढ़ाए जाती थी। मैं स्वयं को रोकने लगा। एक ज़ोरदार कशमश हुई। जीवन, जिसे एक बहते हुए स्रोत की भाँति सरल समझता था, वह मेरे लिये प्रत्येक पग पर बन्धन सिद्ध होने लगा। परन्तु अन्त में मैं उस भीतरी शक्ति से हार खाकर समस्त बाधाओं बन्धनों को तोड़ ताड़ कर आगे निकल गया।

उससे पहले मैंने श्रवणकुमार और सूरदास जैसे नाटक देखे थे और रंगमंच पर रंग-बिरंग पर्दों के सामने विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक दृश्यों के बीच सुनहरी तितलियों जैसी परियों को नाचते थिरकते देखा था। कभी कभी स्कूल से लौटते समय थियेटर के शामियाने के बाहर खड़ा होकर घंटे आध घंटे अंगरेज़ी बैण्ड को बजते सुनकर अपना मन बहला लेता था। किन्तु आज नाटक देखते समय कुछ और ही प्रकार का अनुभव हो रहा था। स्टेज पर सुन्दर नायिका को प्रेम के तूफ़ान में घिर कर जो कुछ सहना और भोगना पड़ रहा था उसमें उससे मेरी पूर्ण सहानुभूति थी। सहानुभूति ही नहीं बल्कि कभी कभी तो मेरा युवा हृदय इतना व्यग्र हो जाता कि जी चाहता नायिका की दुख-दर्द की कहानी एकदम समाप्त करने के लिये मैं अपने को न्योछावर कर दूँ।

मैं जिस दर्जे में बैठा था उसी में दो बहिनें अपनी माँ के साथ बैठी नाटक देख रही थीं। देखने में वे बँगाली लगती थीं। बड़ी बहिन स्त्री अधिक थी और लड़की कम, जिसके कारण वह मेरे यौवन के स्वप्नों के निकट नहीं आ सकती थी। लेकिन उसके और उसकी माँ के बीच वह पन्द्रह सोलह वर्ष की लड़की थी जिसे देखते ही मेरे शरीर में एक प्रकार की सनसनी दौड़ गई। उसे एक बार देखकर बार बार देखने की प्यास बुझती नहीं थी। धीरे धीरे उस हाल में मेरे लिये दो नाटक होने लगे, एक मंच पर और दूसरा उस लड़की के चारों ओर। उसे देखते ही मेरे मस्तिष्क में बहुत से सवाल उठ खड़े हुए। उसको जानने और समझने को मेरे हृदय के तार व्याकुल हो गये—इस छोटे से

शहर में किस बंगाली घराने की हो सकती है वह ? मेरे लिये वह इतनी बहुमूल्य हो गई थी कि मेरी नज़र में उस शहर में ऐसा कोई भाग्यवान नहीं हो सकता था जिसकी वह हो सकती थी !

पता नहीं मधुमक्खी पहले फूल पर बैठती है या काँटे पर। किन्तु जब से मैं उससे दिलचस्पी लेने लगा था उसी समय से मेरी आँखें उससे सम्बन्ध रखने वालों की जाँच पड़ताल करने लग गई थीं। प्रत्येक व्यक्ति को मैं सन्देह की दृष्टि से देखता। उस थोड़े से समय में उसके सरल सौंदर्य के कुंज में मेरे अबोध प्रेम ने जो घोंसला बना लिया था उसमें मैं एक दीन पक्षी की भाँति बैठा चारों ओर आँखें घुमा घुमा कर यही देख रहा था कि सौंदर्य तथा प्रेम के दो तिनकों के बने हुए घोंसले के बिगाड़ने वाले वहाँ कौन कौन थे। जब ड्राप सीन का पर्दा गिरता तब उसके आस पास दो गुण्डे गिलास में शर्बत और हाथ में पान लिये दिखाई पड़ते। पता नहीं वे गुण्डे थे या क्या। जो कुछ भी हो, मेरा मन उससे सम्बन्ध रखने वालों के विषय में कुछ अच्छा नहीं सोच सकता था। मेरे लिये अधिक परेशानी का कारण यह था कि उस व्याकुलतापूर्ण वातावरण में मुझे हर आदमी उसी की ओर देखता दिखाई पड़ता। यहाँ तक कि बिजली का "टेबुल फ़ैन" भी, जो उसकी पंक्ति के सामने हवा देने के लिये रक्खा हुआ था, ऐसा लगता मानों दाहिने बायें घूमते हुए उसके सामने आकर रुकने लगता है और विवश होकर वहाँ से हटता है। जिस चीज़ की ओर मैं अपने सुख तथा शान्ति के लिये खिंच गया था वह इस प्रकार मेरे लिये असीम कष्ट और परेशानी का कारण बन गई थी। जिसे मैं अभी अच्छी तरह देख और जान भी न पाया था वह एकदम मेरी हो गई थी। अपना बनाने के लिए तो मैं कुछ कर नहीं सकता था किन्तु उसे दूसरों के चंगुल से छुड़ाने के उपाय सोचने में मेरी सारी शक्ति भीतर ही भीतर समाप्त हुई जाती थी। और इस प्रकार उस अथाह सागर में आशा और निराशा के उठते हुए ज्वार भाटे में मेरा

कमज़ोर दिल डूबता उभरता रहा।

नाटक समाप्त होते ही बाहर निकला। बरामदे में कई सौ कैन्डिल पावर की बत्ती के प्रकाश में उसके सौन्दर्य को चार चाँद लग गये। उसकी आँखों से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह मुझे अनायास अपनी ओर बुला रही है। इधर उधर देख कर उसके पीछे पीछे चलने लगा। भीड़ से निकल कर सूनी सड़क पर चलता हुआ अपने चारों ओर देखता जाता था। जब बिजली की रोशनी का खम्भा क़रीब आता तो मैं ज़रा पीछे रह जाता। रोशनी में पहुँच कर वह घूमकर मेरी ओर देखती। रात के दो बजे होंगे। नाटक न देखने वाला नागरिक संसार सो गया था। सड़क सूनी पड़ी थी। घर वालों के साथ वह पैदल चली जा रही थी। साथ वही पान शर्बत वाले आदमी थे जिन्हें देख कर कभी कभी मेरे दिल में डर पैदा हो जाता। परन्तु यह इरादा करके भी कि अगली गली से घूम कर घर चला जाऊँगा मैं उसके पीछे पीछे चला जा रहा था। ऐसा मालूम पड़ता मानो वह मेरे अँधेरे रास्ते में रोशनी दिखा रही है। अँधेरी गलियों में फिर कैसा जाता।

चलते चलते मैं उस मोहल्ले में पहुँच गया जहाँ दिन को जाने का मुझे ख्याल तक न हो सकता था। उसके घर के समीप पहुँच कर मैंने उसे पहचाना। अब मेरे मन में तनिक भी सन्देह न रहा। उसे घर तक पहुँचा कर गुंडे लौट पड़े। उन्हें आते देख कर मेरे प्राण सूख गये, निश्चय न कर सका कि किस तरफ़ जाऊँ। परेशानी की हालत में पाँव बढ़ते गये, अँधेरी गली में चलता गया। आगे जाकर गली बन्द मिली। डरता हुआ उलटे पाँव लौट पड़ा। उसके घर के सामने अँधेरा था, पर मैं उसे साफ़ देख सकता था। बरामदे में खड़ी थी, मुझे देखकर भीतर चली गई।

अब मैं अकेला था और उन अँधेरी गलियों के अतिरिक्त मेरा कोई साथी न था। जिधर से गया था उसी ओर से लौट रहा था। कभी डर लगता तो कभी अपने डरने पर ग़ुस्सा आता। अपनी दुर्दशा

पर मानसिक कष्ट और लज्जा का अनुभव हो रहा था। मैं कहाँ चला आया, मुझे हो क्या गया था? अपने आप से तीव्र घृणा हो रही थी। ऐसा अनुभव होता मानो कोई बड़ा पाप करके लौट रहा हूँ। इतनी रात गये सड़क पर केवल मैले गाड़ियाँ चल रही थीं। उनके पहियों की आवाज़ दूर दूर से चीख़ती हुई आती। मैं चलता जाता। धीरे धीरे ऐसा अनुभव करने लगा मानो स्वयं मैलागाड़ी की तरह सड़क पर चारों ओर दुर्गन्ध फैलाता चला जा रहा हूँ। इतने में किसी तरफ़ से एक कुत्ता दौड़ा आया और मुझे घेर घेर कर भूँकने लगा। ऐसा मालूम पड़ता था मानो मुझे फटकार रहा है। मैं और लज्जित हुआ। जब कुत्ते से जान छूटी तो घर का ख्याल सताने लगा। पता नहीं नौकर ने बिछौना निकाला या नहीं। माँ शायद बैठी राह देख रही हों। फिर सोचा, मोहल्ले के किसी आदमी ने देखा तो नहीं......इन्हीं विचारों के समूह में डरता काँपता और अफ़सोस करता मैं घर पहुँचा। सब सो गये थे। दरवाजे पर मेरी चारपाई बिछी थी। कोट उतार कर सिरहाने रक्खा। सुराही से एक गिलास पानी उँडेल कर पिया। चारपाई पर बैठ कर मुँह हाथ पाँव धोए, फिर मसहरी गिराकर मैंने अपने दोनों कान पकड़ कर क़सम खाई, अब ऐसी भूल कभी न होगी। और गायत्री मन्त्र पढ़ते पढ़ते सो गया।

......"पर मेरी ग़रीबी का ख्याल मत करो ज़रीना! मैं तुम्हें कितना प्यार करता हूँ।" उसके मुलायम हाथ अपने हाथों में लेते हुए मैंने कहा। उसने मुस्करा कर अपनी उंगलियाँ छुड़ाते हुए जवाब दिया—"लेकिन तुम नहीं जानते मैं कौन हूँ।" मैंने बात काट कर दुखपूर्ण स्वर में कहा—"जानता हूँ, लेकिन मुझसे क्यों कहलाना चाहती हो!...तुम मेरी सब कुछ हो।" यह कहते हुए मेरा गला भर आया और उसकी आँखों में आँखें डालकर मैंने उसके दोनों हाथ पकड़ लिये। एक क्षण मुझे चुपचाप उदास नेत्रों से देखती रही—

"तुम मुझे बिलकुल नहीं जानते। मैं प्रेम करने के लिये नहीं बनी।" कहकर नाक की नथ छूकर बोली—"देखते हो, इसकी क़ीमत दो सौ हैं। छोड़ दो, मुझे जाना है।" वह अपना हाथ छुड़ाने लगी। सड़क के किनारे बिजली के खम्भे के नीचे सड़क धीरे धीरे चल रही थी। घुटनों के बल ज़मीन पर उसके पाँव के पास बैठा, उसके दोनों हाथ पकड़े, हसरत भरी निगाहों से उसे देखकर मैंने कहा—"दूँगा... सब कुछ दूँगा...मैं सौ हज़ार दूँगा..." कहते कहते मेरी ज़बान लड़खड़ाई, उसके चिकने चिकने पाँव मेरे हाथों में आ गये थे। वह मुस्कराने लगी। अपने पाँव छुड़ाकर खम्भे के पास के पुल की पथरीली दीवार पर बैठ गई। मुझे भी अपने बग़ल में बैठा लिया। थोड़ी देर चुप बैठी रही फिर कुछ सोचते हुए बोली—"तुम क्या कर रहे हो?" मैंने बताया—"मैं पढ़ता हूँ।" सवाल ठीक न समझने पर उसने ग़ौर से मेरे चेहरे की ओर देखा और हँसने लगी। इतने में एक कुत्ता सामने आकर खड़ा हो गया। उसे ज़ोर से एक लात मार कर मैंने भगा दिया। फिर उसकी कमर में बाँया हाथ डाल दिया। उसका दाहिना हाथ मेरे हाथ में था। मैं पागल की तरह बैठा सोच रहा था—कमर अधिक पतली है या हाथ अधिक मुलायम है...एक इक्के वाला ग़ज़ल गाता इक्का तेज़ दौड़ाता हुआ निकला। हम लोगों को देखकर ठहाका मार कर हँस पड़ा। वह प्रसन्न होकर मीठे राग में गुनगुनाने लगी—

ज़िन्दगी का साज़ भी क्या साज़ है।
बज रहा है और बे आवाज़ है॥

फिर उसने मेरे गालों को अपने हाथों से थपथपा कर प्यार से चूम लिया। होंठ से होंठ मिलते ही आँखें बन्द हो गईं। मालूम नहीं हम दोनों कब तक उस हालत में मौन बैठे रहे। जब उसे नींद आने लगी तो मैंने उसे अपनी गोद में उठाकर पुल की दीवार के पास ज़मीन पर लेटा दिया।

मुर्ग़ा ज़ोर से मेरे सिरहाने चिल्लाया, आँखें खुल गईं। घबरा कर उठ बैठा, मैं कहाँ हूँ ? मच्छरदानी से मुँह निकालते ही देखा, लाल मुर्ग़ा मुर्ग़ी भागे जा रहे थे। हक्का बक्का रह गया। क्या सब स्वप्न था ! सोचने लगा। जल्दी से चारपाई से उठा, सब लोग जाग गये थे, नौकर बरामदे में झाड़ू दे रहा था। सिरहाने अख़बार रक्खा था उठाकर पढ़ने लगा।

सिवाय बुढ़िया माँ के दुनिया में मेरा और कौन था। पिता जी अपनी कमाई छोड़ कर जवानी में ही आशाओं का भार लिये इस संसार को छोड़ चले थे। केवल मैं अपनी माँ की बूढ़ी आँखों की ज्योति था। माँ के कारण बचपन में किसी चीज़ की कमी का अनुभव नहीं हुआ। मेरी ओर से भी कभी माँ के हृदय को ठेस नहीं लगी। पढ़ने लिखने में कभी बुरा नहीं रहा। परीक्षा में पास होना ही माँ की सब से बड़ी खुशी थी। मेरी किसी इच्छा को पूर्ण करने में उन्होंने कुछ उठा नहीं रक्खा। मेरे ऊपर उन्होंने कभी किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं लगाया, सिवाय अपने मातृ-प्रेम के बन्धन के जो मुझे फूलों के हार से अधिक भारी कभी नहीं लगा। अतएव, यदि किसी चीज़ की कमी न होते हुए भी जीवन मेरे लिये फीका और अर्थहीन होकर रह गया था तो इसमें किसी का क्या दोष हो सकता था। वास्तव में वे दिन कितनी परेशानी में कट रहे थे। पागलों की सी मेरी दशा थी। भोजन करते समय माता जी मुझसे और खाने का आग्रह करते करते उदास हो जातीं। मैं किसी तरह भी उन्हें प्रसन्न नहीं कर सकता था। इसका कारण शायद यह भी था कि मैं स्वयं अपनी ख़ुशी खो बैठा था।

साँझ हुई नहीं कि मैं नदी की ओर चला। नदी किनारे वैसे तो मन बहलाने जाता किन्तु उससे भी अधिक इस विचार से कि लौटते समय उस मोहल्ले की ओर से आने का बहाना मिल जाता था। प्रायः सूर्यास्त के बाद मैं उसके दरवाज़े के सामने से गुज़रता।

मकान के सामने सदैव कोई न कोई सवारी—मोटर या ताँगा—खड़ी रहती। प्रकाशमय कमरे में महफ़िल जमी होती, जिसके बीच में सौंदर्य की देवी विराजमान रहती। मसनद से लगे हुए दो चार बड़े आदमी बैठे दिखाई पड़ते। पान सिग्रेट का दौर चलता रहता। कभी गाने बजाने का दौर रहता कभी कुछ और। मैं नाले के किनारे दीवार के पास खड़ा हो गया। इतने में किसी के मस्त ठहाके की आवाज़ आई और मैं वहाँ से व्याकुल होकर चल पड़ा। वह मुझे मौन दृष्टि से उस तरफ़ आते जाते देखती रहती। अपने ऊपर मुझे झुँझलाहट होती, गुस्सा आता और नफ़रत होती। प्रतीज्ञा करता, क़सम खाता, अब फिर यहाँ नहीं आऊँगा।

लेकिन घर पहुँचकर फिर उसकी याद सताने लगती। मैं सोचता, वह मुझे ज़रूर चाहती है, मुझे कनखियों से देखती है, पर अपनी माँ से लाचार है। बुढ़िया चौखट ही पर तो पानदान लिये बैठी रहती है। आखिर बेचारी करे तो क्या करे। पर मुझे चाहती अवश्य है। नहीं चाहती तो मेरे स्वप्नों में क्यों आती! उसकी बाँहें, उसकी कमर, उंगलियाँ, वह होंठ, भरा हुआ मुलायम शरीर!! किस तरह मुझे चूम लिया था उसने!!! और मैं निश्चय कर लेता—वह मेरी है। चाहे जो हो, मैं उसे छोड़ नहीं सकता। उसके शरीर के प्रत्येक अंग को कितने निकट से मैंने देखा है, स्पर्श किया है, ओफ़ कैसी फूल सी है वह!—इन ख़यालों से मैं पागल हो जाता। उसे छूने के लिये मेरी उंगलियाँ जैसे रेंगने लगतीं। काँपते हुए होंठों के साथ मेरे बाज़ू टूटने लगते, मानो शरीर के कोई टुकड़े टुकड़े कर रहा है। आँखों से चिनगारियाँ निकल जातीं। बन्द कमरे में आत्मा चिल्ला उठती—मैं उसके पास जाऊँगा, ज़रूर जाऊँगा!

जेठ की दोपहरी तप रही थी। नंगे सिर मैं उसके घर के सामने से निकला। दरवाज़े बन्द मिले। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। लेकिन सुनने की चेष्टा की। तबले तथा गाने की आवाज़ साथ-साथ

आ रही थी। बेचैन होकर जल्दी जल्दी चलने लगा। कंधे पर किसी ने ज़ोर से हाथ रख दिया। मैं चौंक पड़ा। घूम कर देखा, रोशन लाल ! उसने आश्चर्य प्रकट करते हुए हँस कर पूछा—"कहिये जनाब ! यहाँ कहाँ ? बड़े छिपे रुस्तम निकले !" मेरे होश उड़ चुके थे। घबराहट में पता नहीं क्या जवाब दिया। हम दोनों इधर उधर की बातें करते हुए चौड़ी गली से गुज़र रहे थे। दोनों ओर ऊँचे ऊँचे कोठे, धूल लिये हुए लू ज़ोर से चल रही थी। इतने में रोशन लाल एकदम बेतहाशा भागा। हवा के साथ धूल का बवंडर उड़ता देखकर मैं भी उसी ओर भागा। जितना तेज़ भाग सकता था भाग रहा था। इधर उधर के मकानों की दीवारों को देखता जाता। धरती अपनी छाती पर मकानों को लिये हुए नीचे ऊपर हो रही थी। रोशन लाल भागता हुआ गली में घुस गया। मैं भी उसी ओर भागा। गली में रोशन लाल खड़ा ज़ोर ज़ोर से हाँप रहा था। मैंने हाँपते हुए कहा—"बड़े उल्लू हो जी ! भागे क्यों ?" रोशन लाल ने दम लेकर हँसते हुए उत्तर दिया—"अरे यार, बाल बाल बचे, उधर की गली से मेरे ससुर आ रहे थे।" मुझे हँसी आ गई—"लेकिन तुम भागे क्यों ?" उसने हँसी रोकते हुए कहा—"तुम्हारा दिमाग़ फिर गया है क्या ? जानते नहीं यह कौन मोहल्ला है। यदि उन्होंने देख लिया होता तो बड़े जूते पड़ते।" चलते चलते मैं भी ज़ोर ज़ोर से हँसने लगा। उसने पूछा—"और तुम क्यों भागे ?" मैंने जवाब दिया—"भाई मैंने समझा भूकम्प आ गया।" रोशन लाल तालियाँ पीट कर ज़ोर ज़ोर से हँसने लगा। मैंने उसे समझाते हुए कहा—"तुम्हें हँसी आ रही है ? याद नहीं, जो भूकम्प में नहीं भाग सके वह किस तरह दीवारों के नीचे पिस गये।" फिर हम दोनों ख़ूब हँसे। वह मेरे भूकम्प के भय से भागने पर और मैं उसके ससुर को उस मोहल्ले में सोचकर।

अच्छे या बुरे रास्ते पर चल रहा था, यह मैं शायद सोच नहीं

सकता था। लेकिन अपने को हज़ार बार उस रास्ते पर चलने से रोका। किस किस का ख़याल मन में लाकर अपने को रोकने की कोशिश नहीं की। लज्जा, घृणा और भय मुझे चौकन्ने सिपाहियों की भाँति सदैव घेरे रहते थे। जिस तरफ़ भी आँख उठाकर देखता ऐसा प्रतीत होता मानो हर चीज़ मुझ पर हँस रही है। जो भी हँसकर मेरा स्वागत करता उस पर मुझे सन्देह होता—हो न हो मुझ पर घृणा की हँसी हँस रहा है। ये विचार मुझ में कटुता और शत्रुता के तूफ़ान उत्पन्न कर देते। अतएव, मैं सब से बचने की कोशिश करने लगा। परन्तु विद्रोही भावों के होते हुए भी डर और भय की भावनाओं पर मैं क़ाबू नहीं पा सकता था। चूंकि अपने को सदैव अपराधी समझने की मानसिक आदत हो गई थी इसलिये अकसर भय और आशंका के ख़याल से अकारण काँप उठता। धीरे धीरे मुझे हर चीज़ पर गुस्सा आने लगा। काल्पनिक जगत में खो जाने पर शून्य में प्रायः अपने ही को पाता—पूरी शक्ति लगा कर फावड़े से किसी बड़े खम्भे या कभी भारी दीवार को तोड़ तोड़ कर गिरा रहा हूँ। जब कभी सोचने की कोशिश करता तो अपने को एक महान विद्रोही और क्रान्तिकारी के रूप में पाता। ग़रज़कि मेरी दशा दूसरों की दृष्टि में बिगड़ती ही जा रही थी। और साथ साथ बूढ़ी माँ की हालत और भी चिन्ता-जनक होती गई। वे मेरे कारण बहुत चिन्तित रहने लगीं। मैं, जो अपने भले के वास्ते भी उनका बुरा नहीं सोच सकता था, आज अपने कारण उन्हें दुखी देखकर कुछ नहीं कर सकता था। उनके सुख के लिये अपना सुख और शान्ति न्योछावर कर सकता था। किन्तु ज़रीना तो मेरे जीवन में सुख नहीं बल्कि दुःख का सन्देश लेकर आई थी। ऐसी स्थिति में मैं कितना लाचार था! कभी उसे त्याग देने को निश्चय कर लेता तो कभी उससे मुक्ति प्राप्त करने की क़सम खाता। परन्तु किसे त्यागता, किससे मुक्ति पाता? ज़रीना मेरे वास्ते थी ही क्या या मैं उसके लिये क्या था। ऐसे विचारों से जब अधिक परे-

शान हो जाता तो सोचने लगता—बैठे बैठाये किस विपत्ति में फँस गया। मक्खी की भाँति गुड़ में फँस गया था, निकलने के लिये जितना ही ज़ोर लगाता उतना ही फँसता जाता। फिर कमल की भाँति उसका सरल रूप, उसकी पतली कमर, उसकी सुडौल मुलायम बाँहें, पतली नर्म उंगलियाँ निगाहों पर डोरे डालने लगतीं। उसने कनखियों से मुझे देखकर मेरे होंठों को चूम लिया था—सोचता। फिर उसे अपनी गोद में महसूस करके मस्तिष्क ऊपर नीचे होने लगता। तो क्या वह सब स्वप्न था? क्या ज़रीना केवल स्वप्न है? लेकिन कितना अर्थपूर्ण स्वप्न! पूरी कोशिश करके भी स्वप्न को स्वप्न नहीं मान सकता था। वास्तव में वह स्वप्न नहीं जादू था। और फिर मैं सोचने लगता—मेरे बारे में अवश्य वह सोचती होगी नहीं तो मेरे स्वप्नों में क्यों आती। यह सोचता हुआ मैं उठा और उसके घर की ओर उसी हालत में चल दिया।

अँधेरे में मकान की मुँडेर के नीचे खड़ा हो गया। बिजली के पंखे से कमरे का प्रकाश काँप रहा था। उस्ताद के मस्त हाथों के नीचे तबले घुड़क रहे थे, जोड़ी की "खिन-खिन-खिन" मानो मुझे मुँह चिढ़ा रही थी। अकेली सारंगी थी जो मेरे दिल के साथ रो रही थी, और वह गा रही थी—

ना बरसो ना बरसो,
ना बरसो ना बरसो
सावन के बदरा कारे

मेरी सोई हुई आत्मा जाग उठी, जोड़ जोड़ फड़कने लगे, सिर उठाकर मैंने आकाश की ओर देखा—कहीं बादल नहीं थे। किन्तु उसके स्वर में कितनी विनय है, उन स्वरों की विनती सुनकर मेघदूत मान ही नहीं बल्कि मोह भी जायँगे। फिर उसने ज़रा नीची आवाज़ में अन्तरा उठाया—

आते होंगे आज साजन हमारे
प्रीति के मारे मतवारे

जैसे किसी ख़याल ने डंक मारा। एकदम बौखला कर सोचने लगा—क्या तख़्त पर मसनद लगा कर बैठे हुए मोटे मोटे बदमाश उसके साजन हैं? और मेरे मन ने कहा—कदापि नहीं। एक दम मन में आया कि कमरे में घुस कर बदमाशों को पीट कर वहाँ से निकाल दूँ। क़दम बढ़े, बरामदे की सीढ़ी के पास पहुँचकर, कतराता हुआ मैं ठीक मार्ग पर आ गया।

लेकिन मैंने तय कर लिया था कि वह मेरी है और मेरी होकर रहेगी। घर पहुँचकर सीधा अपने कमरे में गया। कमर पर हाथ बाँधे कुछ देर कमरे में टहलता रहा। फिर नौकर से ऊँचे स्वर में पानी लाने को कहा। टहलता रहा। गिलास में पानी लिये माता जी ने कमरे में प्रवेश किया। पानी मुझे देते हुए करुण दृष्टि से उन्होंने मेरी ओर देखा। माँ को देखकर मैं बिलकुल ठण्डा पड़ गया। उन्हें प्रसन्न करने के लिये मैंने हँस कर कहा—"अम्माँ, कई दिनों से तुमसे कुछ कहने को सोच रहा था।" माँ ने मुझे सान्त्वना देते हुए कहा—"कहो बेटा, कहो, क्या बात है? आख़िर कहोगे नहीं तो मालूम कैसे होगा।" इतना ढारस पाकर मैं बिलकुल बच्चा बन गया। सिर झुकाये हुए जैसे रूठकर कहा—"माँ, मैं सोने की घड़ी लूँगा, मेरे पास घड़ी नहीं है।" माता जी ने उत्तर दिया—"अच्छा बेटा, अच्छा, इतनी ही बात थी तो कहा क्यों नहीं......?" मैंने दूसरी तरफ़ मुँह फेर कर कहा—"एक घड़ी देखी है—वह मुझे पसन्द है। घड़ी वाला दो सौ रुपये माँगता है।" माता जी आश्चर्य से ताकती रह गईं—"बेटा इतने दाम की घड़ी लेकर क्या करोगे? कोई हलके..." मुझे चुप देखकर वे अपनी बात पूरी न कर सकीं। जब मैं कुछ नहीं बोला तो उन्होंने अन्दर जाते हुए कहा—"अच्छा, इसमें क्या है। मैं

रुपये देती हूँ। मैंने तुम्हारी कौन सी बात नहीं रक्खी।" और वे न जाने क्या कहती हुई अन्दर चली गईं।

हाय रे जवानी दीवानी! तू जो न कराले। जेब में दो सौ रुपये नक़द लिये, जेब पर हाथ रक्खे, ज़रीना के घर के सामने, गन्दे नाले के पुल पर, अँधेरे में खड़ा था। हर आदमी को देखकर चोर उचक्के का सन्देह होता—कोई जेब न काट ले। परन्तु जिसकी जवानी ख़रीदने के लिये वहाँ खड़ा था उसका दरवाज़ा आज बन्द मिला। बरामदे और दरवाज़े पर ख़ामोशी का सामराज्य था। उस अन्धकार में से निराशा की लहरें निकल कर मुझ तक आतीं और मुझसे टकराकर लौट जातीं। किन्तु बढ़ती हुई बाढ़ की तरह हर लहर मेरे शरीर के अधिकांश भाग को डुबो देती थी। धीरे-धीरे पानी मेरे गले तक पहुँच आया। डूबते हुए आदमी की तरह मेरी आत्मा अन्तिम सहारे के लिये तड़पने लगी। इतने में सामने के दरवाज़े का एक किवाड़ खुला। मैं आशा के भय से, भीगे हुए आदमी की तरह, खड़ा काँप रहा था। वह बरामदे में आकर खड़ी हो गई। कुछ देर स्थिर खड़ी रहने के बाद उसने इधर उधर देखा और भीतर जाते हुए मुझे हाथ से संकेत कर गई। एक अनिच्छित मौन में जिस प्रकार अपराधी फाँसी के तख़्ते की ओर बढ़ता है, मैं उसका संकेत पाकर उसके खुले हुए दरवाज़े की ओर बढ़ रहा था।

जब कमरे में दाख़िल हुआ तो उसने किवाड़ की आड़ में से हाथ बढ़ा कर चटख़नी चढ़ा ली। फिर वह बीच के कमरे से होकर बग़ल के कमरे में गई और बड़े कमरे में पलंग पर पाँव लटका कर बैठ गई। सामने की कुर्सी पर संकेत पाकर मैं भी बैठ गया। उसकी गम्भीरता देखकर मेरा मुँह बन्द था। कुछ देर चुप रहने के बाद अंत में उसी के होंठ हिले—"आप रोज़ यहाँ क्यों तशरीफ़ लाते हैं?" सवाल सुनते ही मेरी आँखों के नीचे जैसे अँधेरा छा गया। हिचकिचाते

और डरते हुए मैंने कुछ कहना चाहा—"मैं आपको....." लेकिन बात उसकी फीकी हँसी से कट गई। सिर उठा कर वह सामने दीवार पर लटकी हुई तस्वीर को देख रही थी और मैं घबराया हुआ उस वाक्य को सोच रहा था जो सौभाग्य से नहीं कहा जा सका था। उसकी आँखें तस्वीर पर जमी थीं। सिर झुकाये, मैं आँखें चुराकर उसके गले तक का हिस्सा देख रहा था। उससे कहने के लिये कितनी प्रेमपूर्ण बातें अपने मन में लिख लाया था। किन्तु उस समय ज़बान खोले न खुलती थी। धीरे धीरे मैं कमरे की ख़ामोशी से घबराने लगा। यहाँ से निकाला न जाऊँ। आख़िर इस तरह कब तक वह मूर्ख मौन को सहेगी? मैं बैठा सोच रहा था। जब मुझसे कुछ करते न बना तो जेब से गठरी निकाल कर उसके सामने रख दिया। उसने जैसे परेशान होकर मेरी ओर देखा, उसकी आँखें मुझसे बराबर यही सवाल कर रही थीं, आख़िर यह क्या है! मैंने उसकी नाक की नथ की ओर संकेत करते हुए कहा—"इसकी क़ीमत, दो सौ रुपये।" यह कहते हुए मेरा हृदय ज़ोर ज़ोर से धड़क रहा था। मैं कुछ और न कह सका। उसने मुस्कराते हुए गठरी खोली, रुपये देख कर उसने हँसते हुए कहा—"आपको नोट नहीं मिले?" मैं अत्यधिक लज्जित हुआ और अपनी उस छोटी समझ को कोसने लगा जिसने ज़रीना को ख़रीदने के लिये चाँदी के रुपयों को काग़ज़ के नोटों से अधिक उपयोगी समझा था। ज़रीना ने मेरी जेब की ओर संकेत करके कहा—"कुछ और है?" मैंने अपराधी की भाँति जेब में हाथ डाले, कुछ पैसे थे। वह भी निकाल कर उसके सामने रख दिये। ज़रीना रुपये और पैसे सब हथेली में बन्द करके बच्चों की तरह बजाने लगी। मैं उसके सामने उल्लू बना बैठा मुस्करा रहा था। फिर उसने सारी माया मेरी जेब में डाल दी और रेशमी रूमाल, जिसमें वह सम्पत्ति बँधी थी, झाड़ कर अपने पास रख लिया। फिर उसे उंगली में लपेट कर खेलने लगी—"रूमाल मेरा है, रुपये

अपनी तरफ़ से आपको मिठाई खाने को दिये।"

मेरे पैरों के नीचे से ज़मीन निकल चुकी थी और मैं ऐसा अनुभव कर रहा था जैसे हवा में कुर्सी लगाये बैठा हूँ—अब क्या करूँ ? लेकिन कुछ तो करना ही था। मन में आया पूरी कहानी एकदम कह डालूँ। लेकिन केवल होंठ हिले से थे कि उसके होंटों की सुर्ख़ी मुस्कराई और उसके अर्थ-पूर्ण चेहरे पर हँसी की एक लकीर रेंग गई। परन्तु मेरे आश्चर्य की कोई सीमा न रही जब वह फिर एक तस्वीर की ओर देखने लगी। मैं कभी उसकी ऊपर उठी पुतलियों की सफेदी को देखता कभी तस्वीरों की ओर। सामने वाली तस्वीर में हवाई जहाज़ उड़ रहा था। सामने की सीट पर ज़रीना पायलेट की टोपी और चश्मा लगाये बैठी थी। पीछे की सीट पर राजसी टाट के कपड़े पहने कोई राजा साहब बैठे थे, और उनकी बग़ल में दुबले पतले से, अंगरेज़ी वस्त्रों से अपने को सजाये, कोई और महाशय थे।

जैसे वह तस्वीर से बातें कर रही थी—"राजा साहब और इनकम टैक्स के अफ़सर, इन्होंने पिछले तीन वर्षों में दस हज़ार से ज़्यादा ख़र्च किये। मैं इनकी उदारता के हाथ बिक चुकी हूँ। इन्हीं लोगों ने मेरी नथ उतारी थी।" उसकी नथ मेरे मस्तिष्क में प्रश्न-सूचक वाक्य बन गई—"लेकिन आप तो अब भी—"। ज़रीना ने तस्वीर की ओर देखते हुए जवाब दिया—"माँ का हुक्म !—माँ का हुक्म, और इन लोगों को भी शायद यह ख़ूबसूरत फ़्रेम पसन्द है।" कुछ क्षण हम दोनों चुप बैठे रहे। अन्त में शायद मेरी परेशानी कम करने के लिये उसने मेरी उंगली पकड़ कर मुझे अपने बग़ल में बैठा लिया। अपने सौन्दर्य का भार हथेली पर रक्खे, जाँघ पर झुकी हुई मुझे तिर्छी नज़रों से देखते हुए उसने पूछा—"आप क्या चाहते हैं ?" मैं इस सवाल के लिये भी कब तैयार था ? परन्तु जवाब हौसले से दिया—"मैं आपसे प्रेम करता हूँ।" नाक पर उंगली ले जाकर उसने हँस कर कहा—"तो आप भी इसे उतारना चाहते हैं !" और मेरे

जवाब की राह देखे बिना वह मेरे पास से उठ कर चली गई।

मैं लाचार बैठा कमरे की प्रत्येक चीज़ ग़ौर से देखता रहा। किस ढङ्ग से हर चीज़ अपनी जगह पर सजी हुई थी। कितना मुलायम बिछौना था और कितना बड़ा पलंग, और पलंग के सामने दो गद्देदार कुर्सियाँ रक्खी थीं। फिर उसके बाद तख़्त था जिस पर क़ालीन बिछा था। तख़्त पर पड़ी हुई मसनदें आपस में मानो कुछ सलाह कर रही थीं। क़ालीन पर एक ओर उगालदान भी रक्खा था। दरवाज़ों पर मोतियों का झिलमिलीदार पर्दा पड़ा था और दीवारों पर बड़ी बड़ी तस्वीरें लटकी थीं। जिस पलंग पर मैं बैठा था उसमें सिरहाने की तरफ़ एक आईना जड़ा हुआ था। ज़रा पीछे खसक कर आईने में अपना मुँह देखना चाहा। आईने में चेहरा चोरों का सा लगा। एकदम मैंने आईने के सामने से सिर हटा लिया। उस समय मानो कोई मेरे कानों में गा रहा था—"मुखड़ा क्या देखत दर्पन में।"

ज़रीना वापस आई और आकर मेरे बग़ल में उसी तरह बैठ गई। मैंने उसकी ओर देखा। नाक में नथ की जगह शर्बती रंग की नग जड़ी एक कील थी। ज़रीना का सौंदर्य उस कील के जड़ाव में से कोई मधुर राग अलाप रहा था। "आप यही चाहते थे न? लीजिए आप ही वाली हो गई।" मेरी ओर देखकर जब उसने यह कहा तो उसकी आँखें मेरी आँखों पर छा गईं। मेरे हाथ अपनी छोटी हथेलियों में लेकर गम्भीरता से बोली—"तो आप मुझ से प्रेम करते हैं। लेकिन मैं प्रेम करने के लिये नहीं बनी। आप पढ़ने लिखने वाले भले घर के लड़के हैं—आज तो ख़ैर अम्मा नहीं हैं—पर आप मेरा कहा मानिये—" मैं एक विचित्र आवेश में बोल उठा—"यह नामुमकिन है, ज़रीना यह मुझसे न होगा।" मेरे मुँह से 'ज़रीना' शब्द इस निर्भीकता से सुनकर ज़रीना को भी मुस्कराना पड़ा—"नामुमकिन है! और यदि मैं आपसे प्रेम करती हूँ?" मेरा सिर झुक गया। "अगर आप इसी में ख़ुश हैं तो मैं आपको प्यार करती हूँ।

लेकिन फिर आप से कहूँगी, मैं प्रेम के लिए नहीं बनी हूँ—" मेरी नज़रें सीधी तस्वीर के जहाज़ पर गईं। तस्वीर की ओर देखते हुए जैसे वह सोचने की कोशिश कर रही थी—"यहाँ हर चीज़ धोखा है, झूठ है। उस हवाई जहाज़ की तस्वीर में मेरी और मेरे चाहने वालों की तस्वीरें ऊपर से मिला दी गई हैं। इन लोगों ने सबसे ज़्यादा मेरी क़ीमत दी है। मैं इनकी मुलाज़िम हूँ। तस्वीर नक़ली है।" बातें सुनते सुनते मुझमें जान आने लगी। हर चीज़ में एक नयापन पाने लगा। अब तक जो वातावरण हृदय पर भार बना हुआ था उसका प्रभाव चित्त पर इतना सुखमय हो गया कि मुझे जैसे नशा चढ़ने लगा। वह धीमे स्वर में जैसे ख़ुद से बातें करती रही। मैंने कुछ सुना, कुछ नहीं सुना और बहुत कुछ सुनकर अनसुना कर दिया। परन्तु अब उसके होंठों की हरकत से ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो उसके नर्म होंठ कड़े शब्द गढ़ने की चेष्टा कर रहे हों—"…न होने दूँगी, लेकिन मैं बिना तुम्हारी सहायता के सफल नहीं हो सकती।" एकटक देखता मैं उसकी बातें सुनता रहा। "तुम जानते हो, तुमने मेरे अन्दर एक हलचल मचा दी है। परन्तु मुझे उम्मीद है कि तुम मुझसे वह न चाहोगे जिसके लिए दूसरे यहाँ आते हैं। इसके बदले में वादा करती हूँ, तुमसे वह बर्ताव न करूँगी जिसके लिये मैं दरवाज़ा खोले बैठी हूँ। तुम से मुझे जीवन की जो झलक मिली है उसे अमर बनाने में तुम मेरी सहायता करो। मुझे उम्मीद है तुम भी मुझमें वही पाओगे जिसकी तस्वीर दिल में लेकर यहाँ आये थे।" मेरा मन आनन्द से नाच रहा था। पलंग पर उसके साथ लेटा हुआ ऐसा अनुभव कर रहा था मानो बादलों की सेज पर सोये हुए हम दोनों आसमान में उड़ रहे हैं। मैं लगातार उसी को देख रहा था और वह नजाने क्या क्या सोच रही थी। इतने में कोई बाहर से दरवाज़े पीटने लगा। मुझे घबराते देख कर उसने मेरी हिम्मत बँधाई। वह आगे आगे चली और मैं उसके पीछे हो लिया। ड्योढ़ी के अँधकार में पहुँचकर किसी की

बाहों ने मुझे घेर लिया और फिर जैसे मेरे होंठों पर गर्म रुई की सेज किसी ने लगा दी हो। जिस समय वह बड़े कमरे का दरवाज़ा खोल रही थी उसी समय ड्योढ़ी का एक पल्ला खोल कर मैं बाहर निकल गया। कोई साहब अँगरेज़ी कपड़े पहने सिर पर नाइट कैप इस तरह रक्खे थे कि चेहरा आसानी से पहचाना नहीं जा सकता था। पतलून में से कमीज़ का दामन खींचकर जल्दी जल्दी अपने को हवा कर रहे थे। मैं उनके पीछे से धीरे से बाहर निकल गया। उन्हें उस हालत में देखकर मुझे हँसी आई, लेकिन वह दिन सोचकर जब मुझको भी एक बार उस दरवाज़े पर पसीना आने लगा था मेरी हँसी ख़त्म हो गई।

घर पहुँच कर मैंने अपने कमरे का दरवाज़ा बन्द कर लिया। रुपयों को बक्स की तह में रक्खा, फिर धीरे से वह पाँच रुपये की सोने की घड़ी निकाली। उस नक़ली घड़ी में मुझे वक्त देखते हुए हँसी आ गई। घड़ी लेकर अन्दर गया। माँ की बूढ़ी आँखें लालटेन की रोशनी में सोना देखकर चमकने लगीं। माँ ने कहा—"बेटा, अब तो तुमने ख़रीद ही ली। अगर कहो तो इसे अपने पास रख लूँ। शायद तुमसे खो जाय।" मैंने अपनी मर्ज़ी प्रकट करने के साथ यह ताकीद कर दी "और कोई न जानने पाये कि मैंने सोने की घड़ी ख़रीदी है।" माँ को मेरी बात पसंद आई और उनको प्रसन्न देखकर मैं उदास हो गया।

अँगरेज़ी कहावत है—"इच्छा को दबाना नहीं बल्कि उसके सामने सिर झुका देना चाहिये।" लेकिन मेरा निजी अनुभव यह रहा कि इच्छा के सामने बार बार सिर झुकाकर भी मैं उसको जीत न पाया। मेरी आत्मा की प्यास बार बार बुझकर भी न बुझ सकी। ज़रीना के मना करने के बावजूद उसके वहाँ बार बार जाने को मन करता। जिस तरह शराबी को जब शराब नहीं मिलती तो वह भट्टी के चारों ओर चक्कर काट कर वहाँ के वायु-मण्डल से ही मस्त हो आता है उसी प्रकार मैं ज़रीना के मकान के गिर्द चक्कर लगाकर अपना मन बहला आता था।

परन्तु उस दिन फिर मन ने मेरे ऊपर क़ाबू पा लिया। सन्ध्या-समय था, सामने वाले बड़े कमरे में रोशनी नहीं जली थी। मैं धीरे से अन्दर जाकर कोने में कुर्सी पर बैठ गया। मेरे सामने, बग़ल के कमरे में, तख़्त पर कोई आदमी मोटे तकिये पर मुँह के बल पड़ा था। उसके सामने एक गिलास में शराब थी जिसमें सोडे के बुलबुले अब भी उठ रहे थे। शराब की बोतल और दो सोडे की बोतलें सामने रक्खी थीं। गिलास में बर्फ़ का टुकड़ा गल कर छोटा हो गया था। उगालदान के मुँह पर पान की भद्दी पीक पड़ी थी। आदमी के बाल माथे पर बिखरे हुए थे, मुँह लाल हो गया था और आँखें चढ़ी हुई थीं। गिलास पर हाथ रक्खे मुँह के बल तकिये पर पड़ा था। मैंने ज़रा झुक कर देखा, मोतियों की झिलमिली के पीछे ज़रीना पलंग पर पैर लटकाए बैठी थी। उसके हाथ में भी गिलास था और आँखें बाहर निकली आ रही थीं। शराबी पर नज़रें गड़ाये वह देख रही थी।

अपनी आँखों से क्या देख रहा हूँ! ज़रीना शराबी!! वही ज़रीना जो मेरे सीधे सादे जीवन की एकमात्र पथ-प्रदर्शक है!!! मैं बैठता सोचता रहा और जब सोच न सका तो देखता रहा। शराबी ने नशे पर अधिकार पाने की चेष्टा में आँखें उठाकर ज़रीना की ओर देखा। मैंने उसे पहचानने की कोशिश की। न राजा साहब न इनकम टैक्स के अफ़सर! आख़िर यह तीसरा व्यक्ति कौन? क्या बहुत से ऐसे बदमाशों का यहाँ गुज़र है? मैंने फिर सोचने की चेष्टा की। इसी बीच ज़रीना उसकी आँखों का इशारा पाकर उठी और बोतल से शराब उसके गिलास में उडेलने लगी। शराबी के हठ करने पर उसने थोड़ी सी शराब अपने गिलास में भी डाल ली और फिर अपनी जगह पर जाकर बैठ गई। शराबी पागलों की भाँति हँसने लगा। ज़रीना को उसने अपने पास बैठने को इशारा किया और जब वह न मानी तब अपने गिलास की शराब ज़रीना के ऊपर फेंकने के लिये उसने गिलास उठाई। ज़रीना हँसती हुई उसके सिरहाने जाकर बैठ गई।

अब मैं सिर्फ़ ज़रीना को देख सकता था। शराबी ज़रीना का हाथ पकड़ कर उसकी उँगलियाँ तोड़ने की चेष्टा कर रहा था। ज़रीना, हँसती हुई उँगलियाँ छुड़ाकर, उसके सिर पर हाथ फेरने लगी। इतनी हमदर्दी शराबी के साथ! इतनी मेहरबानी उसके ऊपर! मेरी चेतना ज़ोर ज़ोर से मेरे कानों में चिल्ला रही थी। शराबी ने टटोलकर अपना बायाँ हाथ ज़रीना की जाँघ पर रक्खा और दूसरे हाथ से गिलास ख़ाली कर दी। ज़रीना ने जितनी शराब बच रही थी शराबी की गिलास में उडेल दी और झुककर ख़ाली बोतल तख़्त के नीचे रखने लगी। शराबी ने उसकी जाँघ में उँगलियाँ गड़ाते हुए, दूसरी गिलास भी ख़ाली करके उसे तख़्त पर उलट दिया। अर्धमूर्च्छित दशा में शराबी को ज़रीना की जाँघ में उँगलियाँ गड़ाते हुए देख कर मेरे मन ने आँखों से पूछा—वही जाँघ!

पता नहीं उस दशा में कब तक पड़ा रहा। आँखें बन्द थीं और यह नहीं जानता कि सो या जाग रहा था। एकाएक किसी ने हाथ पकड़ कर हिलाया और मेरी आँखें खुल गईं। सामने ज़रीना खड़ी थी। शराबी मुँह के बल तख़्त पर पड़ा सो गया था और उसके मुँह से लाल राल टपक कर तकिये पर बह गई थी। ज़रीना के इशारे पर मैं उसके पीछे पीछे चला। कोठे पर अपने कमरे में ले गई। वह चारपाई पर पड़ गई। थका और अलसाया मैं भी उसके बग़ल में लेटा रहा। कुछ देर चुपचाप हम दोनों उसी हालत में पड़े रहे। इतने में कोई कमरे में दाख़िल हुआ। ज़रीना चौंककर उठ बैठी। मैंने भी सिर उठाकर देखा। ज़रीना की बड़ी बहिन थी, हम दोनों को देखकर उलटे पाँव कमरे से बाहर जा रही थी। ज़रीना कुछ सोचती हुई पलंग पर थोड़ी देर पाँव लटकाए बैठी रही। मैं अपनी जगह पड़ा रहा। इतने में ज़रीना की माँ की आवाज कमरे के बाहर बरामदे में सुनाई पड़ी। "ज़रीना क्या हो रहा है?" इस सवाल के बाद उसकी आवाज़ और कड़ी हो गई, "तेरी जैसी कई ज़रीना मैं पैदा करके बैठी

कम दो आवाज़ें होतीं, एक किसी डाल से टकराकर और दूसरी धरती पर गिरने की। सेमर के भारी फूलों के टपकने की मनहूस आवाज़ से घिरा कुर्सी पर मैं बैठा था।

कुर्सी पर बैठा बैठा जब अपने ख़यालों में खो जाता तो कोई सेमर का फूल धरती पर गिरकर मुझे जगा देता। मैं समझता ज़रीना आ गई। कितनी ही बार उस जगह ज़रीना मुझसे मिली थी। जब से मैंने उसके घर जाना छोड़ा, वह मुझसे यहीं मिलती थी। आज उसका अन्तिम मिलन याद आ रहा था। मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए उसने उदासी से मुस्कराकर मुझसे विवाह करने से इनकार कर दिया। उस समय मेरे विवाह की बातचीत चल रही थी, जिसने मेरे अन्दर एक नई इच्छा उत्पन्न कर दी थी। मैं उस कल्पना से नाच उठा। ज़रीना मेरी हो जायगी। खुशी से फूला हुआ ज़रीना से यहाँ मिलने आया। उसे शाम को कहीं गाने जाना था। (ऐसे मौक़ों पर वह मुझसे यहाँ मिलने का बहाना ढूँढ़ लेती थी।) ज़रीना मुझसे दूर ही थी कि उसकी ज़री की साड़ी का अक्स मेरी आँखों की पुतलियों में झलकने लगा। ज़रीना आकर थकी हुई मेरी बग़ल में उसी कुर्सी पर बैठ गई। उसका चेहरा बासी फूल जैसा लगा। शादी की बात सुन कर वह उदास हँसी हँसने लगी। मैं उस बात को लाख तरह से उठाता और हर तरह से विनय करता किन्तु वह मेरी बात टालती ही गई। जब मुझे क्रोध आने लगा तो मेरे सिर पर हाथ फेर कर मेरा क्रोध शान्त करते हुए बोली—"शादी कर लो, मैं भी बहू देखने आऊँगी।"

मेरा क्रोध बढ़ने लगा। कुर्सी से उठ कर अपने दोनों हाथ कमर पर बाँध कर टहलने लगा। बार-बार यही सोचता—उसी ने मेरी शादी कराई और मेरा जीवन नष्ट किया। मानसिक उलझन में मेरा माथा गर्म हो गया था। अन्दर से विद्रोह का तूफ़ान उमड़ा आ रहा था। एक भारी फूल पट से भूमि पर गिरा। मैंने घूम कर देखा। वह फूल नहीं था, ज़रीना के पैर की आवाज़ थी। मैं उसको देख कर

कुर्सी पर बैठ गया। उसने समीप आकर कहा—"मैंने कहा आदाब अर्ज़।" मैंने उत्तर दिया—"आदाब अर्ज़!" कुर्सी पर बैठते हुए उसने पूछा—"कहो कैसे रहे, बहुत दिनों बाद मिले।" मैंने कहा—"आपकी मेहरबानी।" "क्यों ख़ैरियत तो है, कुछ रूठे से लग रहे हो। बहू ने कुछ कहा तो नहीं?"—"सब तुम्हारी मेहरबानी है।"—"क्यों क्या बात है, कुछ कहो भी सही। जब से शादी हुई तुम मिले भी नहीं। सोचा चलूँ आज मिल आऊँ।" "अच्छा सोचा, मैं भी मिलने ही वाला था।"—"लेकिन कुछ कहो तो, आख़िर क्यों ऐसी रूखी रूखी बातें कर रहे हो? जी घबरा रहा है। मैं तो ख़ुशी-ख़ुशी मिलने आई, सोचा बहुत दिनों बाद तुमसे भेंट होगी, बातें करके जी बहलाऊँगी और एक तुम हो जो रूठे बैठे हो।"—"ज़रीना! जो कुछ तुमने कहा मैंने किया। उसी का नतीजा है जो आज मैं कहीं का न रहा। नाराज़ नहीं हूँ, मेरा रहा ही कौन जिससे मैं नाराज़ होता......" "क्या बहू ने—?" "बहू बहू मत करो अगर तुम चाहती हो कि मैं यहाँ बैठा रहूँ। जब से साड़ी जलाई गई मैंने उनकी सूरत......"। "साड़ी जलाई गई?"—"जी हाँ, वह साड़ी, जो आपने भेजी थी, जलकर ख़ाक हो चुकी। लेकिन उसे छोड़ो, इस वक़्त मेरे तनबदन में आग लगी हुई है और उसमें मैं जला जा रहा हूँ। मैं जानता हूँ......।"

परेशानी की हालत में ज़रीना के होंठ खुले हुए थे। सिर ऊपर किये मेरी ओर एकटक देख रही थी। "......नहीं तो मुझे तुमसे विदा होना पड़ेगा।" कह कर मैं उठ कर खड़ा हो गया और टहलने लगा। वह सिर झुकाए बैठी रही और कुछ देर तक हम लोग मौन रहे। सिर्फ़ फूलों के गिरने की आवाज़ हो रही थी।

ज़रीना ने गम्भीरता-पूर्वक कहा—"बैठ जाओ, मुझसे भूल हुई जो मैंने तुमसे शादी करने को कहा। मेरी भूल थी जो उस रात तुमको अँधेरी सड़क पर से अपने घर में बुला लिया। बहू की भी भूल है जो

उन्होंने साड़ी जला दी। लेकिन सबसे बड़ी भूल तुम्हारी है जो उनकी शिकायत लेकर मेरे पास आए। मैं क्या कर सकती हूँ? अगर मैं माफ़ी माँग लूँ तब भी समस्या हल न हो जायगी। पर मैंने तुम्हारे रास्ते में आकर भूल की...''—''वह मुझे समझने को रहने दो।''—''नहीं यह मुझी को समझना है...मुझे क्या हक़ था जो अपने अच्छे या बुरे जीवन से निकल कर तुम्हारे जीवन की हरियाली पर तफ़रीह करने आई। ख़ुश थी मैं अपने जीवन में......''—''ज़रीना, झूठ मत बोलो, तुम ख़ुश नहीं थी...''—''यह तुम्हें कैसे मालूम? मैं आज से अधिक ख़ुश थी।''—''उन शराबियों बदमाशों के साथ......'' ''हाँ, लेकिन आज तुम दोनों के रंज का कारण बनकर ख़ुश नहीं हूँ। गन्दगी में रहती थी और उसमें प्रसन्न थी क्योंकि वही मेरा जीवन था। बिगड़े मेरे पास आते, मैं उन्हें और बिगाड़ती या बनाती थी। उसीलिये शायद वे मेरे पास आते भी थे। उसी के वास्ते समाज ने हमको शहर के किनारे उस मोहल्ले में नाले के पास बैठा दिया था। जिनको दुनिया में कोई भी ख़ुश न कर सकता था वह मुझमें आनन्द ढूँढ़ते आते। जिनका संसार में कोई न होता वे मुझे अपनाते। मैं उस आती जाती, बनती बिगड़ती दुनिया में रहकर ख़ुश थी, सुखी थी...'' ''शराब पीकर!'' ''हाँ शराब पीकर, शराब जिससे तुम्हें नफ़रत है और जो तुमको मैंने नहीं पिलाई। शराब पीना और उस जीवन में रहना मुझे पसन्द था...लेकिन मेरे दिल में एक ऐसा कोना था जिसको मैं जीत न सकी थी। अपने मन के उसी झरोखे से मैंने तुम्हें देखा और···''। ''और मेरी शादी करा दी।''। ''वह मेरी जीत थी...अपने आँसुओं का हार तुम्हारे गले में डालकर मैंने कहा, जाओ शादी कर लो। मेरे आँसू ही मेरे प्रेम की स्मृति थे। अपने स्वार्थ पर मैंने तुमको क़ुर्बान नहीं किया। लेकिन चूँकि तुम मुझसे बहुत सी आशाएँ बाँधने लगे थे इसलिये आज इस तरह मुझे......''

उसकी बातें सुनते सुनते थक कर उठकर टहलने लगा। ''तुमसे

अपने जीवन को सुखी बनाने की चेष्टा करना मेरी भूल थी। मैं नहीं जानती थी कि दुनिया में किसी का सुख कम करके ही कोई सुखी हो सकता है। बैठ जाओ, खड़े क्यों हो?"

मैंने बैठते हुए कहा—"सोच रहा था बहुत देर हो रही है।

ज़रीना एकदम रुककर फिर कहने लगी—"हाँ चलो चलती हूँ। मैं तुमसे प्रेम करती थी इसलिए मैंने तुम्हारा बुरा नहीं चाहा (पार्क के कोने से लोमड़ी के रोने की आवाज़ आने लगी) मुझे आशा है तुम मुझे समझने की कोशिश करोगे (लोमड़ी ज़ोर ज़ोर से रो रही थी) एक आदमी दो आदमियों को एक साथ आज सुखी नहीं बना सकता। वह चाहे मैं हूँ या तुम। मुझे आशा है तुम मुझे ग़लत नहीं समझोगे।" (ऐसा लगता था मानो लोमड़ी रोती हुई हम लोगों की ओर बढ़ती आ रही थी) मैं चलते चलते रुक गया और घूम कर उससे कहा—"ज़रीना!" (लोमड़ी बिल्कुल मेरे पीछे आकर रोने लगी) उसने मेरे कन्धे पर हाथ रख कर कहा—"भूल जाओ जो कुछ हुआ।" (लोमड़ी चुप थी, उसकी आँखें अँधेरे में चमक रही थीं)

सात वर्ष बाद।

अब मैं दो बच्चों का बाप हूँ। खाता पीता आदमी, अपने बच्चों को प्यार और पत्नी का आदर करता हूँ। किसी चीज़ की कमी का अनुभव नहीं करता। वैसे तो इस जीवन की यह विशेषता है कि शायद ही कोई ऐसा हो जो पूर्ण रूप से अपने को सम्पन्न समझता हो।

शाम को अपने बरामदे में आराम कुर्सी पर बैठा कुछ सोच रहा था। सामने सड़क पर एक ताँगा आकर रुका। अधेड़ अवस्था की भरे बदन की एक औरत सफ़ेद साड़ी पहने ताँगे से उतरने लगी। माथे पर घुँघराले बालों के दो लटके हुए गुच्छे उस स्त्री के बीते हुए सौंदर्य की कहानी सुना रहे थे। साधारणतः इस नए मोहल्ले में हर आदमी रास्ता भूला हुआ आता है। मैंने सोचा, ज़रूर श्रीमती जी किसी का

मकान पूछना चाहती हैं। लेकिन देखते देखते वे बरामदे में आ गईं। यद्यपि मैं उनसे परिचित नहीं था किन्तु उनके स्त्रीत्व के सम्मान में कुर्सी छोड़कर उठना पड़ा। उन्होंने हाथ जोड़कर मुझे नमस्ते किया, मैंने भी अनायास जवाब में हाथ जोड़े। वह मुस्करा पड़ीं, मेरा दिल चीख़ उठा—ज़रीना ! मैंने अब उसे पहचाना और घबराया हुआ इधर उधर देखने लगा, कोई देख तो नहीं रहा है। उसके साथ बड़े कमरे में आया, तुरन्त पत्नी का ध्यान आया। किन्तु वह उन दिनों मायके गई थीं। भीतर भी जब मुझे चैन न मिला तो उसके साथ काँपती हुई जाँघों से सीढ़ियों पर चढ़ने लगा, मानो इतनी मूल्यवान चीज़ पा गया था कि उसे छिपाने को कोई जगह ही न मिल रही हो। ऐसे ही जैसे कुत्ता रोटी का टुकड़ा पाकर कोई कोना ताक कर भागता है।

ऊपर के कमरे में आकर मैंने उनसे कुर्सी पर बैठने को कहा। रेडियो एक कोने में देख कर वह मुस्कराईं। मैंने पूछा—"आप हँसीं क्यों ?" ज़रीना ने मुस्कराते हुए जवाब दिया—"योंही।" मैंने पूछा—"कहिये आप मज़े में थीं ?"—"आपकी मेहरबानी।"—"इधर कैसे आना हुआ ?"—"बनारस तक एक 'बीड़े' के सिलसिले में आई थी। सोचा आपसे भी मिलती चलूँ।" लेकिन मेरी समझ में बात न आई। "मेरा पता ?" उन्होंने रेडियो की ओर मुस्कराते हुए देखा—"रेडियो पर सुना था।" मैं आश्चर्य से उनकी ओर देखता रह गया। ज़रा सोचने पर ख़याल आया। शर्म से सिर झुक गया। बहुत दिन हुए रेडियो वालों को मैंने ख़त लिखा था। रेडियो प्रोग्राम के बारे में ज़रीना के गाने की तारीफ़ करते हुए सलाह दी थी कि उसे अक्सर गाने के वास्ते बुलाया जाय। "लेकिन वह चिट्ठी आपको कैसे मिली ?"—"चिट्ठी का जवाब मैंने सुना था।"—"अच्छा, मैंने नहीं सुना।"—"जी हाँ, आपने बड़ी मेहरबानी की। मेरा कई बार लखनऊ जाना हुआ, बड़ी मदद की आपने मेरी......" मैं शर्म से पानी पानी हो रहा था। "जी हाँ मैंने अपने कुछ साथियों से वैसे ख़त लिखने को

कह दिये थे।" ज़रीना मुस्कराती हुई बोली—"आप मुझे भूले नहीं, यही मेरे लिये क्या कम था।"

मैंने हँसते हुए नौकर को आवाज़ दी और उसे चाय लाने को कहा। "तकलीफ़ न उठाइये। स्टेशन पर पी ली थी।" इस बात से कुछ असन्तुष्ट होकर मैंने कहा—"आप मेरे यहाँ आ रही थीं तो—" उसने मेरी बात काटते हुए कहा—"जी नहीं, यह बात नहीं, मैंने सोचा आप से मुलाक़ात हो न हो।" "रहने दीजिये बहुत हुआ, पान से तो एतराज़ नहीं?" फिर मैंने नौकर से पान लाने को कहा।

इस बीच में उसकी नज़र कमरे के कोने की मेज़ पर रक्खे हुए फ़ोटो-स्टैण्ड पर गई। ज़रीना ने मुस्कराते हुए पूछा—"यही एक लड़की है?" मैंने तस्वीर में देखा। मेरी धर्मपत्नी मेरे बग़ल में बैठी थीं और सामने हमारी लड़की खड़ी थी। मैंने जवाब दिया—"जी नहीं, एक बच्चा गोद में है।" तस्वीर पर नज़र जमाये हुए उसने पूछा—"आपकी पत्नी मज़े में हैं?" तस्वीर में मैं अपनी पत्नी के कन्धे पर हाथ रक्खे खड़ा था। शर्माते हुए जवाब दिया—"जी हाँ, मज़े में हैं।"

नौकर ने पान लाकर दिया। पान खाते हुए गम्भीरता से ज़रीना ने कहा—"मैं आपके पास एक ज़रूरी काम से आई थी। वक्त ज़्यादा नहीं, इसी गाड़ी से लखनऊ जाना है।" मैं बीच में बोल उठा—"लेकिन आपने तो कहा था बनारस।"—"जी नहीं, कल लखनऊ में प्रोग्राम है।" मैं सामने पड़ा हुआ "लिसनर" उलटने लगा। उसने अपनी बात जारी रक्खी—"मेरा इस तरह यहाँ आना माफ़ कीजियेगा। कुछ दिनों से बराबर आने को सोच रही थी, आना ज़रूरी था"। यह कहते हुए वह अपना मनीबेग खोलने लगी। मैं आश्चर्य से मनीबेग की ओर देख रहा था। "आपको याद होगा" कहते हुए उसने सोने की एक छोटी सी दो मोतियों की नथ निकाली—"आप तो इसे पहचानते होंगे—यह उस वक्त उतर चुकी थी। इसके उतारे जाने में मेरी माँ का हाथ था, वह मेरी रस्म नहीं थी। लेकिन मैं ऐसे आदमी

की खोज में थी जिसको इसे भेंट कर सकती,—जो स्त्री को पहचानता और उसका मूल्य समझता......उस दिन रेडियो पर आपका ख़त सुनकर मैंने सोचा, आप स्त्री की इज़्ज़त का शायद भार उठा सकें।" नथ मेरे हाथ पर रख कर वह कुर्सी से उठने लगी। मैंने परेशान निगाहों से उसे देखते हुए सन्दिग्ध अवस्था में उससे पूछा—"लेकिन मैं इसे क्या करूँ?" उसने मुस्कराते हुए कहा—"यह आपकी चीज़ है, इसमें औरत की लाज और इज़्ज़त दोनों है—यह अमानत आपके पास रहनी चाहिये।" कह कर वह चलने लगी। मैंने बेचैन होकर कहा—"लेकिन ऐसी जल्दी क्या, आज रह जाइये, कल सुबह भी लखनऊ जा सकती हैं।" उसने कमरे के चारों ओर देख कर फीकी हँसी हँसते हुए कहा—"यह मेरे ठहरने की जगह नहीं, मुझे जाना ही होगा।" कहते हुए उठी, सीढ़ी से उतरने लगी। मैंने हिचकिचाते हुए पूछा—"फिर कब मुलाक़ात होगी?" उसने घूम कर मेरी आँखों में देखा। "देखिये कब, ज़िन्दगी का क्या ठेकाना।" यह कहते हुए वह साड़ी का कोना उठाकर अपनी आँख तक ले गई।

मैं दरवाज़े पर खड़ा था। उसका ताँगा चला जा रहा था। वह दूसरी ओर देख रही थी, मैं उसे देख रहा था। ज़रीना कितनी बदल गई है। उसकी उम्र किस तेज़ी से ढलती जा रही है। उसका कहना याद आया, "ज़िन्दगी का क्या ठेकाना" और मैं एकदम काँप गया।

विचारों में डूबा हुआ ऊपर कमरे में वापस आया। छोटी मेज़ पर सोने की अमानत पड़ी थी। कहाँ रक्खूँ इसे? यही प्रश्न बार बार उठता। छोटी सी चीज मुझे कितनी भारी लगने लगी। ऐसा अनुभव कर रहा था मानो किसी ने मेरे गले में पत्थर की भारी चक्की डाल दी हो। कुछ देर उसे हाथ में लिये इधर उधर घूमते रहने के बाद अपना बक्स खोला और उसकी तह में नथ रख दी। फिर कुर्सी पर आकर बैठ गया। कुछ देर सोचते रहने के बाद फिर मैं व्याकुल होने लगा। जाकर बक्स खोला। नथ को ढूँढते समय सोने की घड़ी

मिली। इस बात से खुशी हुई कि इतनी देर में उसने अपना एक साथी भी ढूँढ लिया था। अब मैं दोनों चीजों को हाथ में लिये कमरे में इधर उधर घूमने लगा। फिर अलमारी खोली, अलमारी के अन्दर बीच के ख़ाने में दीवार पर एक तस्वीर दो कीलों पर लटकी हुई थी।

तेईस वर्ष हुए, आकाश पर उत्तर की ओर एक बड़ा तारा चमका था, जिसकी लाल रोशनी दुनिया के पाँचवें भाग पर आज भी पड़ रही है। यह उसी लाल तारे की तस्वीर है। चिकना सिर, चमकती हुई गहरी आँखें, भद्दी नाक, मज़बूत जबड़े और छोटी सी दाढ़ी। देखने में आदमी चोरों का सर्दार जान पड़ता है। वास्तव में चोरों और नीचों से जीवन में इसका गहरा सम्बन्ध रहा। तस्वीर को देखकर मुझे बड़ा संतोष हुआ। तस्वीर दो कीलों पर ठहरी थी। एक कील पर नथ और दूसरी पर घड़ी लटका दी।

सोने की नक़ली घड़ी में मेरा अतीत छिपा था और असली सोने की नथ में भविष्य का बोझ, एक के बिना दूसरा सम्भव नहीं। नथ का बोझ मैं अकेले नहीं उठा सकता था इसलिये उस तस्वीर को साथी बनाया।

कोढ़ी की मौत—

आम तौर से आदमी की ख़ुशी की दो मंज़िलें होती हैं। पहली मंज़िल वह जब मनुष्य अपनी प्रसन्नता का विषय पाकर कहीं भी और किसी भी हालत में प्रसन्न हो सकता है। उसके बाद उस विषय को संसार के विभिन्न आभूषण पहना कर उससे प्रसन्न होना चाहता है।

विवाह होने के बाद कुछ दिनों तक मानो मैं सब कुछ भूल गया था। कभी यह नहीं अनुभव किया कि मैं कहाँ हूँ और क्या चाहिए। बल्कि यह कहिये कि अपनी ख़ुशी से इतना ख़ुश था और उसमें इतना खोया हुआ कि दुनिया और उसकी वस्तुओं की आवश्यकता ही नहीं अनुभव किया। किन्तु वे अच्छे दिन कुछ ही दिनों तक रहे।

उसके बाद मैं अपनी पत्नी के साथ सिनेमा जाने लगा। कभी कभी शहर के बाहर दूर तक उनके साथ घूमने भी चला जाता। एक दो बार नदी की ओर भी गया। ग़रज़कि अपनी प्रसन्नता का "बैंक बैलेंस" तेज़ी से घटता देखकर ऐसी नक़ली चीज़ों से सहायता लेने लगा जैसे ग्रामोफोन, हारमोनियम, आइसक्रीम इत्यादि इत्यादि। दोस्तों की संगत में ताश खेलना और हँसी दिल्लगी तो साधारण बातें थी। सारांश यह कि दाम्पत्य-जीवन को सफल बनाने के लिए मैंने क्या कुछ नहीं किया।

परन्तु वह एक ऐसी क्षणिक प्रसन्नता थी जो मेरे सभी प्रयत्न करने पर भी आये दिन दम तोड़ रही थी। कभी कभी तो मन बिल्कुल उचट जाता और मैं व्याकुल होने लगता। घर वाले गाँव जाने को कह रहे थे। उनकी राय से सहमत होकर तबियत बदलने के विचार से गाँव जाने का निश्चय किया। एक दो दिन बाद शहर से आराम और आनन्द की चीज़ों का लंगर इकट्ठा करके हम लोग देहात के लिये रवाना हुए। जब तक रेलगाड़ी पर सवार थे तब तक तो नगर से सम्बन्ध ऐसा नहीं टूटा। किन्तु जब गाड़ी से उतर कर सारा शहरी लाव-लश्कर गाँव के लिये बैलगाड़ी पर लदने लगा तो वह दृश्य अत्यन्त बेतुका लगा। और जब बैलगाड़ियों पर लदे फँदे हम लोग जंगल के रास्ते से होकर गुज़रने लगे तब तो बेहद हँसी आने लगी। लेकिन वास्तव में छावनी के मकान पर पहुँच कर मैंने पूर्णरूप से अपने को गाँव में अनुभव किया। ग्रामोफ़ोन जब बजते बजते चुप हो जाता तो बैलों, बकरियों और गँवारों की आवाज़ों से मेरे कान बजने लगते।

दोपहर के समय बरामदे में आराम कुर्सी पर पाँव फैलाये पड़ा था। सामने दरवाज़े पर बायीं ओर ग़ल्ला रखने वाले मकान के सामने मज़दूर मज़दूरी ले रहे थे। उसी बरामदे में भाई साहब नंगे बदन खुरी चारपाई पर बैठे मज़दूरों का हिसाब करने में व्यस्त थे। मेरे दाहिने ओर आँगन के पूर्वीय भाग में पशुओं के लिये "चरन" बनी हुई थी, जहाँ लगभग बीस पचीस पशु खड़े नादों में सानी खा रहे थे। उनके सानी खाने से वायुमण्डल में विचित्र भद्दी प्रकार की भनभनाहट हो रही थी, जिसमें आसपास उड़ने वाली मक्खियों की आवाज़ भी शामिल थी। बैलों की काली काली लम्बी पूँछों के बराबर हिलते रहने से मक्खियाँ बैलों के नादों से सड़ी हुई खली की दुर्गन्ध अपने साथ लिये हुए वायु में चक्कर काट रही थीं। ईंट के चबूतरे पर बूढ़ी हलवाहिन बैलों के नीचे से गोबर हटा रही थी। भूसा रखने की लम्बी कोठरी और बैलों के चरन के बीच के सकीर्ण अँधेरे बरामदे में हलवाहा किसी के साथ

गाँजे का दम लगा रहा था। सामने खलिहान के उस पार खेतों की असीम हरियाली की श्यामांश दुनिया ढलते हुए सूर्य की अन्तिम किरणों से जीवन का रस खींच रही थी।

एक भिखारी भीख माँगता हुआ दरवाज़े पर किसी तरफ़ से आ निकला। मज़दूरों के पास झोली डण्डा रखकर उसने भाई साहब के ऊपर आशीर्वादों की झड़ी लगा दी और चुप तभी हुआ जब उसे विश्वास हो गया कि भीख ज़रूर मिलेगी। जाड़ा आम तौर से गाँवों में लोगों के लिये बेकारी का समय होता है। अधिकांश लोग ज़मींदारों के यहाँ मज़दूरी करके पेट पालते हैं और जिनको वह भी नहीं मिलता, वे खेतों से साग पात नोच खसोट कर खाते और जीते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो ऐसे विचित्र उपायों से रोज़ी कमाते हैं जो मध्यम वर्ग के बेकारों को सूझ भी नहीं सकते। बहुत से भीख माँगने के लिये साधु फ़क़ीर बन जाते हैं। किन्तु इससे भी अधिक संख्या में वे होते हैं जो भीख माँगने के लिये अपनी भूख तथा ग़रीबी से बढ़कर कोई और सनद ज़रूरी नहीं समझते।

अतएव, वह भी विचित्र दृश्य होता है जहाँ हम ग़रीबों को उस कंगाल दुनिया में भीख माँगते देखते हैं। पुराने समय में संगीत तथा अन्य कलाएँ राज-दरबारों की चीज़ें होती थीं। ललित कलाओं के विशेषज्ञ धनी लोगों के सामने अपनी कला का प्रदर्शन करके अपना पेट भरते थे। किन्तु आज इन बुरे दिनों में जब कि न दरबार रहे और न ललित कलाओं के वे पंडित, उन कलाओं तथा खेल तमाशों की यदि कोई निशानी बाक़ी रह गई है तो वह गाँवों में ही देखने में आती है। भीख माँगने वाले देहातियों की दरिद्रता के दरबार में अपना पेट पालने के लिये उन कलाओं का प्रदर्शन करते हैं। भूखे प्यासे भिखारी किस तन्मयता से संगीत की देवी की पूजा करते हैं, और उनसे भी अधिक अपने को किस तरह भुला कर दरिद्रता के मारे ग्रामीण उनकी कला से आनन्द उठाते हैं। देहाती गवैयों के मुक़ाबले में शहरी

उस्ताद मुझे सदैव गठिया के रोगियों जैसे लगते हैं। हमारी मिटती हुई प्राचीन कलाओं को भी, सोचने का विषय है, आख़िर इन दरिद्रता के टिमटिमाते हुए दियों के नीचे क्यों शरण मिली।

भिखारी दरवाज़े पर बैठा ही था कि बग़ल की गली से एक मदारी डमरू बजाता हुआ बन्दर और बन्दरिया लिये आ निकला। दरवाज़े पर पहुँच कर वह बड़े उत्साह से पूरी शक्ति लगा कर ज़ोर ज़ोर से डमरू बजाने लगा। डमरू की तेज़ आवाज़ वायुमण्डल में इस तरह गूँजी कि उसकी कड़क से जैसे अगल बग़ल के कच्चे मकानों की दीवारें काँपने लगीं। सम्पूर्ण वायुमण्डल डमरू की आवाज़ से काँप रहा था और ऐसा अनुभव हो रहा था मानो प्रलय आ गया। दाढ़ी वाले शिवशंकर क्रोध में आकर डमरू बजा रहे थे। पशु कान खड़े किये चौंक चौंक कर मदारी की ओर देख रहे थे। गाँव के सारे बच्चे इकट्ठे हो गए। बौखलाए हुए कुत्ते भूँक भूँक कर आसमान फाड़े डाल रहे थे। ऐसा लगता था मानो शंकर का ताण्डवनृत्य शुरू होने ही को है। वायुमण्डल वेचैन हो रहा था। इतने में भाई साहब की कड़कती हुई आवाज़ पश्चिमी बरामदे से आई। डमरू एकदम बन्द हो गया।

लेकिन जब बच्चे एकत्र हो चुके थे तब बन्दर का नाच होकर रहता। अतएव नाच शुरू हुआ। दाढ़ी वाला मदारी गाता हुआ बन्दरों को नाचने को कह रहा था। बँदरिया एक ओर छिप कर बैठ गई थी। बन्दर उसके शृंगार के लिये परदेस से कोई भी चीज़ नहीं लाया था। इसलिये वह अपने पति से नाराज़ थी। परन्तु जब मदारी ने उसकी नाराज़गी की बात बन्दर के कान में कही तो बन्दर क्रोध से उतावला हो गया। डण्डा लेकर खड़ा हो गया और यदि मदारी ने बीच बचाव न किया होता तो बँदरिया पिट कर रहती। ख़ैर किसी प्रकार बिदाई हुई। आगे आगे बन्दर राम कन्धे पर डण्डा रक्खे चले और पीछे लँहगा पहने ओढ़नी ओढ़े उनकी धर्मपत्नी चलीं। बँदरिया को देख कर मुझे अपने देश की स्त्रियों का ससुराल जाना याद आया।

बिलकुल वही पहनावा, वही चाल, वही ख़ुशी या रञ्ज और वही विवशता। यदि कोई अन्तर था तो केवल इतना कि बँदरिया चार पैरों से चल रही थी।

लेकिन वास्तव में यदि किसी बात पर मुझे आश्चर्य हो रहा था तो इस पर कि मनुष्य ने जानवर को कुछ सिखाया भी तो अपना दाम्पत्य जीवन। और इससे भी अधिक आश्चर्य इस पर हो रहा था कि पुरुष स्त्रियाँ और बच्चे किस प्रसन्नता से उस तमाशे को देख रहे थे। वही काम हम नित्य करते हैं, किन्तु उस दिन बन्दरों को अपने जीवन की उस प्रकार नक़ल उतारते देख कर मैं परेशान हो गया। मुझे बन्दरों का अधिक ख़याल आता था—वे क्या सोचते होंगे ? शायद वे सोचते हों, आदमी को प्रसन्न रखने के लिए उन्हें उन्हीं के जीवन की नक़ल करनी पड़ती है। यह सोच कर मैं और भी लज्जित हुआ। बन्दरों के हाथों अपने जीवन का मज़ाक उड़ते देख-कर ग़ुस्सा आ रहा था और शर्म भी लग रही थी। किन्तु उसी समय मुझे उस महान सत्य या वास्तविकता का ख़याल आया जिसके अन्तर्गत हमने यह जाना था कि हम बन्दरों से तरक़्क़ी करके मनुष्य हुए हैं। याद उस वास्तविकता को स्वीकार करते समय कोई कठि-नाई होती थी तो इसी कारण कि अपने और बन्दरों के बीच संस्कृति की एक लम्बी चौड़ी खाईं या दीवार नज़र आती थी। किन्तु आज उन सभ्य बन्दरों को मानव संस्कृति की नक़ल उतारते देखकर मैंने भली-भाँति स्वीकार कर लिया कि वे अवश्य हमारे पुर्खे रहे होंगे।

बन्दर का नाच ख़त्म हो चुका था। किन्तु उसका महत्वपूर्ण भाग अब शुरू होने को था। मदारी का फटा हुआ अँगोछा भूमि पर बिछ गया, डमरू फिर बजने लगा। बच्चे तथा स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार के अन्न लाकर उस फैले हुए कपड़े पर डाल रही थीं। मदारी ललकार ललकार कर भीख माँग रहा था और मैं बैठा सोच रहा था—बेकारी दूर करने की यह भी विचित्र तरकीब है। चूँकि यह मानव

प्रकृति है कि तमाशा हर किसी को अच्छा लगता है इस कारण मदारी गाँव के ग़रीबों के बीच भी बन्दर नचाकर अपना पेट भर लेता है। सहसा स्त्रियों को शर्मा कर भागते और बच्चों को तालियाँ पीट कर हँसते देख कर मेरी नज़र बन्दरों की ओर गई। बन्दर और बँदरिया सिद्ध करने की चेष्टा कर रहे थे कि वे हमारी विवाह सम्बंधी प्रथाओं के क़ायल नहीं। बन्दरों को उस हालत में देखकर मैंने अनुमान लगाया कि हमारे पूर्वजों का कामुक जीवन किस प्रकार का रहा होगा।

यों तो सूर्य दिखाई नहीं पड़ रहा था किन्तु अभी साँझ होने में देर थी। जाड़े की संध्या ऐसी होती ही है। उसी कुर्सी पर पड़ा कुछ सोच रहा था कि मेरी पत्नी के आ जाने से विचारों का क्रम टूट गया। मेरी दृष्टि मैदान में पड़े हुए गोबर पर से उड़ कर उनके ओवर-कोट के समूर पर गई। अपना ओवर-कोट उनके हाथ में देखकर मैं समझ गया कि उनकी इच्छा टहलने जाने की है। बरामदे से उतर कर चलने ही को था कि घर में से और लड़कियाँ तथा बच्चे जाड़े के कपड़े पहने निकल आये। सब को साथ लेकर मैं टहलने चला। खलिहान से आगे निकल कर हम खेतों की मेंड़ पर होकर चलने लगे। बच्चे आगे दौड़ते चले जा रहे थे। मेरी पत्नी मेरे पीछे और लड़कियों के साथ थीं। मैं हरियाली पर नज़र दौड़ाता हुआ इधर उधर की बातें सोचता चला जा रहा था। सरसों के पीले पीले फूल आपस में मिल जुल कर ऐसे झूम रहे थे मानों गीत गा रहे हों। मुझे अपने पत्नी की प्रातःकाल की भैरवी याद आई। मटर की खेती छीमियों के घमण्ड से फूली नहीं समाती थी। गेहूँ और जौ के पौधे तेज़ टूड़ों से अपने धन की रक्षा कर रहे थे।

चलता चलता "फार्म" पर पहुँचा। गन्ने की ऊँची फ़सिल खड़ी थी। इतनी ऊँची कि हाथी खो जाय। किन्तु बीच बीच की क्यारियों से होकर आदमी आर-पार आ जा सकता था। बच्चे हँसते शोर ग़ुल मचाते मना करने पर भी गन्ने के खेत में ग़ायब हो

गए। बच्चों का साथ देने के उद्देश्य से हमें भी उन्हीं घनी क्यारियों में से होकर चलना पड़ा। बच्चे भागते हुए दूर आगे निकल गए थे। जब मैं गन्ने की घनी तेज़ पत्तियों से बचता हुआ झुक झुक कर चल रहा था तो बार बार जी चाहता कि बच्चों के साथ मैं भी भाग निकलूँ। यदि भागने से कोई रोकता था तो धर्म पत्नी का साथ था। उनका नारिक अतीत इस प्रकार की दौड़ धूप की अनुमति नहीं दे सकता था। परन्तु प्रकृति की गोद में अपने को पाकर उनकी तबियत भी कुछ हरी हुई। तेज़ चलती हुई वे मुझसे पहले ही बीच फ़ार्म में पहुँचीं। बच्चे वहाँ पहले से मौजूद थे। किन्तु वहाँ पहुँचकर उन सब को निराशा हुई। फ़ार्म की छावनी बन्द हो चुकी थी। काम करने वाले मज़दूर अपने घरों को जा चुके थे। पत्थर का हौज़ में निस्तब्ध पानी आकाश को दर्पण देखा रहा था। पानी का इंजन इंजन-घर में आराम कर रहा था।

बच्चे आँखमिचौनी खेलने पर तुल गए। मेरी पत्नी ने भी खेल में भाग लेने की इच्छा प्रकट की। ऐसा लगता था मानों बच्चों की संगति में उनका सोया हुआ लड़कपन जाग उठा है। मेरा मन तो कभी से दौड़ने भागने को चाह रहा था किन्तु जब भी दौड़ना चाहता तो ऐसा अनुभव करता मानो लँगड़ा हो चुका हूँ। वास्तव में शादी के बाद मैं सदैव ऐसा अनुभव करता था जैसे एक पैर अपनी पत्नी के पैर से बाँध कर जीवन में स्थायी रूप से वह दौड़ दौड़ रहा हूँ जो पढ़ाई के ज़माने में, बारह दिसम्बर के खेल-कूद के दिन, कभी किसी लड़के के साथ अपना एक पैर रूमाल से बाँधकर दौड़ा था। किन्तु प्रकृति की गोद में पत्नी की आत्मा की कली को खिलते देखकर मैंने अनुभव किया मानो मेरे दोनों पैर स्वतंत्र हो गए हैं। फिर बच्चों के साथ खेल में हम दोनों ऐसे घुल मिल गए कि बच्चे भी हमें अपने से अलग नहीं समझते थे। यद्यपि वास्तव में हम दोनों बच्चों के बीच अलग ही एक खेल खेल रहे थे जिसे बच्चे क्या समझ सकते।

संध्या हो चुकी थी, अँधेरा होने को आया। बच्चे थके हुए भेड़ों बकरियों की झुण्ड की तरह कच्ची सड़क पकड़े लौट रहे थे। सड़क चौड़ी थी परन्तु बरसात में बैलगाड़ियों ने उसकी ऐसी दुर्गति कर दी थी कि उस पर चलना कठिन होगया। जगह जगह गड्ढे थे और रास्ता अत्यंत ऊबड़ खाबड़। इस कारण हम लोग सड़क छोड़कर किनारे किनारे खेतों की मेंड़ें पकड़े लौट रहे थे। बच्चे अब भी आगे आगे भागते जाते थे। हम दोनों आपस की बातचीत में व्यस्त थे। इतने में देखा बच्चे वापस लौटे आ रहे हैं। उनमें से एक ने पहले पहुँचकर हाँफते हुए सहमी आवाज़ में बताया कि आगे सड़क के किनारे एक जोड़ी चप्पल पड़ी है और कोई आदमी खेत में सोया हुआ है। लड़के के मुँह से वह बात सुनते ही मेरे कान खड़े हुए। जाड़े के मौसम में संध्या समय खेत में कौन सोया हो सकता है। बच्चों के अतिरिक्त अपनी पत्नी के लिये चिन्ता हुई क्योंकि मुझे मालूम था वह कितने कमज़ोर दिल की स्त्री हैं, अपनी छाया देख कर तो डरती हैं। उन पर क्या बीतेगी। बच्चों को उँगलियाँ पकड़ाए, सब को साथ लिये, आँखें नीची किये धीरे धीरे सड़क पर चल रहा था।

बच्चों से आँख बचाते हुए मैंने धीरे से दाहनी ओर देखा। मोटर के टायर के दो फटे पुराने टुकड़े पड़े थे। चमड़े की जगह उनमें पुरानी रस्सियाँ लगी थीं और रस्सियों में चीथड़े लपटे थे। कोढ़ी की चप्पल! मेरा दिमाग़ चीख़ उठा। इतनी ज़ोर-ज़ोर से मैं सोच रहा था कि अपनी बातें कानों में सुनाई पड़ रही थीं। दिमाग़में से गुज़रते हुए विचारों को कानों से सुनकर मैं स्वयं डरने लगा। खेत में वह आदमी सोया था। उसके सिरहाने एक पुराना घड़ा पड़ा था। सोया हुआ रखवाला उस घड़े की किस अज्ञात निधि की रखवाली कर रहा था? मैंने फिर अपने दिमाग़ को सोचते हुए सुना। हरी फ़सिल खेत के किनारे पर जहाँ थोड़ी हो जाती थी वहीं वह पथिक नन्हें नन्हें पौधों की सेज पर सो गया था। क्या वह आख़िरी नींद थी? अपनी दोनों भुजाओं पर

रोंगटों को खड़ा होते अनुभव किया। पथिक मोटर के टायर की चप्पलों पर चलता चलता आख़िर यहाँ क्यों थक कर सो गया? रबड़ अभी नहीं घिसा था। फ़ोर्ड कम्पनी का ख़याल आया जहाँ टायर बनकर तैयार हुआ होगा। फिर वह पुरानी सड़ती गलती मोटर याद आई जो मेरे मोहल्ले में गन्दे पानी के नाले के किनारे गड्ढे में अज्ञात समय से पड़ी सड़ रही थी। उसके बाद मुझे उस इन्जन का ख़याल आया जिसे संध्या को इन्जन-घर में सोता पाया था। ग़रज़कि ज़रा सी देर में मैं हर तरफ़ शून्य में ख़ामोश मशीनें देखने लगा। हर तरफ़ मशीनें बिगड़ी पड़ी थीं। रबड़ के टायर की चप्पल चुपचाप पड़ी थी। अवश्य कोढ़ी होगा। परन्तु अभागे कोढ़ी को कौन दिन धाड़े मार कर खेत में डाल देगा। देहाती कहावत है—बन्दर मारे हाथ कारे। अवश्य कोढ़ी पथिक जीवन के मार्ग पर रबड़ के टायर की चप्पल पर चलता चलता थक कर सदा के लिये, जीवन की संध्या देखकर, सो गया है। मरने और सोने में अन्तर ही क्या होता है। किन्तु जीवित आदमी को देखकर आदमी की हिम्मत बढ़ती है, मरे को देखने से हिम्मत छूट जाती है।

अँधेरे में डरते काँपते हम चले आ रहे थे। हर व्यक्ति कुछ न कुछ सोचता रहा होगा, किन्तु ऊपर से सब चुप थे। सामने वाले टोले पर हम लोग पहुँच चुके थे। टोले का मुखिया अहीर रास्ते पर खड़ा था। उसने मुझे सलाम किया और हम लोगों को उस समय वहाँ देखकर उसे आश्चर्य हुआ। उसी से मालूम हुआ। वह आदमी दक्षिण की ओर से आया था। चीनी की मिल से एक घड़ा चोटा लेकर लौट रहा था। रास्ते में भर पेट चोटा पी लेने का परिणाम था जो विषाक्त चोटे ने उसे चोटे का बोझ ढोने से मुक्त करके सदा के लिये जीवन के बन्धन से मुक्त कर दिया था। वह करुण कहानी सुनकर ग्रामीण जीवन की पूरी तस्वीर आँखों के सामने फिर गई। दक्षिण में गन्ना इस कारण नहीं बोया जाता कि उस ओर रेलवे लाइन न होने की वजह से चीनी की मिलें नहीं हैं।

जाड़े की ऋतु में जब दक्षिण वाले खाने की चीज़ों की कमी के कारण भूखों मरने लगते हैं तब इस ओर आकर चीनी की मिलों पर से घड़ों चोटा ख़रीद कर ले जाते हैं। चीनी की मिल में से बहकर गन्दे सड़े हुए चोटे का एक सोता मिल की सारी गन्दगी अपने साथ लिये हुए गन्दे पानी के उस बड़े तालब में जाता है जिसकी तीव्र दुर्गन्ध से छोटी लाइन की ट्रेन पर यात्रा करते हुए बड़े आदमियों को बहुधा क़ै हो गई है। जब मिल मालिकों को यह बात मालूम हुई कि मिल की वह गन्दगी भी काम में आ सकती तो उन्होने उसपर दाम लगा दिये। खुले आम एक आना घड़ा चोटा अब भी बिकता है और दक्षिण से आने वाले अब भी चोटा ख़रीद कर पीते और मरते हैं या मृत्यु के निकट पहुँचने की अनजान चेष्टा करते हैं।

उस रात मुझे नींद नहीं आई। मैं तो कम किन्तु मेरी पत्नी अधिक भय से काँपती रहीं। उनकी नींद बार बार उचट जाने से मुझे चिन्ता होती कि कहीं वह बीमार न पड़ जायँ। इधर उधर की बातें करके उन्हें बच्चों की तरह बहला कर सुलाने की चेष्टा करता रहा। दूर दूर से जंगल तथा अरहर के खेतों में से गीदड़ों और लोमड़ियों के रोने की आवाज़ें सुनाई पड़तीं। बार बार मुझे उस मरे व्यक्ति का ख़याल आता। यही सोचता कि गीदड़ तथा अन्य जानवर एकत्र होकर उसके शव को नोचते न हों। मेरी पत्नी बार बार कहतीं कि कोई जानवर उसकी आँख न निकाल ले जाय। क्यों नहीं गाँव वाले मुर्दे को वहाँ से उठा लाते? किन्तु बिना थानेदार साहब की अनुमति के लाश कैसे हटाई जा सकती थी। इन विचारों में खोए हुए भयत्रस्त हम लोग कभी कभी घन्टों ख़ामोश पलंग पर पड़े रहते। जब मैं अपनी पत्नी की ओर देखता तो ऐसा अनुभव करता मानो हम लोग जंगल के बीच पड़े हैं।

रात का जागा हुआ सवेरे सो ही जाता है। वैसे इस तरह के सोने को भी सोना ही कहा जायगा नहीं तो मैं उस सोने में जितना जागता

सन्नाटा छाया हुआ था। ऐसा लगता था मानो लोग आज समय से पहले दिये बुझाकर सो गए। देर से लौटने पर श्रीमती जी नाराज़ न हों, इस विचार से डरता डरता मकान में दाख़िल हुआ। फटकार तो नहीं पड़ी बल्कि सब की परेशानियाँ मुझे देखकर कम होने लगीं। पूछने पर मालूम हुआ, मेहतर के घर नाले पर कोहराम मचा हुआ है। बात यह थी कि दिन डूबते ही मेहतरानी मुसलमान जजमानों के यहाँ चली गई। घर पर मेहतर और मुनुआ महफ़िल जमाये बैठे थे। दो सिरों और कुछ भुनी हुई हड्डियों पर शराब का अद्धा ख़त्म होकर ज़मीन पर लुढ़क गया था। अब दूसरी बोतल से दौर चल रहा था। नशा जमने लगा था। अँधेरे बरामदे में महफ़िल रोशन किये बैठे थे।

मेहतर ने कुल्हड़ ख़ाली करते हुए कहा—"मार डाला!" और मुँह बिगाड़कर झूमता हुआ बकरे का सिर उठाकर दाँतों से नोचने लगा। मुनुआ ने हड्डी चूसते हुए पूछा—"कस रे, तोर मेहरिया कहाँ गै!"

"कहुँ जजमानी गै होई।"

मुनुआ झूमने लगा, मानो कुछ सोचने की कोशिश कर रहा हो—"हर जून ससुरी जजमनिये माँ रहत है, हमार मेहरिया होत तो हम मारी डारित।"

मतया ने एक नली तोड़ते हुए कहा—"अरे सरऊ, नीक जौन नाहीं है, नाहीं तो तोंहका हियाँ बैठे नाहीं देत।"

मुनुआ की आँखों में शरारत थी—"हमका हियाँ बैठे देत चाहे न देत पर सरऊ तोंहका हियाँ बैठाय के अजिजवा के हियाँ अपने तो गुलछर्रा उड़ावत है।"

मतया मानो नींद से जागा—"कसरे कौन अजिजवा, तनी फिर तो ओकर नववा ले।"

दूसरे बकरे का सिर मुनुआ के हाथ में था—"सरऊ तोहँका कौनों

मरद कही। हम तो रोज ओका अजिजवे के घरवाँ देखित हैं।''

मतया ने एक कुल्हड़ कस के पी ली और आँखों की पुतलियाँ अँधेरे में नचाकर ज़रा रहस्यपूर्ण ढङ्ग से बोला—''कस बे सच कहत है ?'' अपनी पत्नी को भद्दी गाली देकर—''अच्छा तनी चलके इतनी जून तैं अजिजवा के घरवा तो देखाय दे, फिर ओका हम समझ लेब।'' यह कहते हुए वह झपटकर अन्दर गया और दो लाठियाँ निकाल लाया। एक लाठी मुनुआ को पकड़ाकर, अपनी लुंगी का फेंट कसते हुए बरामदे से नीचे लपका और दोनों अँधेरे में खो गये।

अधेड़ अवस्था के अज़ीज़ मियाँ, आबकारी विभाग में मामूली मुलाज़िम थे। पत्नी को मरे हुए बहुत दिन हुए। आज त्योहार के दिन धुला अंङ्गा पजामा पहनकर एक बोतल शराब के साथ वे भी अपने ढङ्ग से इसलाम की याद ताज़ा कर रहे थे। शोर ग़ुल सुनकर मेहतरानी को तो उन्होंने पीछे से बाहर निकाल दिया। स्वयं नशे की हालत में लड़खड़ाते हुए दरवाज़े पर पहुँचे। मेहतर को देखकर उनका नशा तेज़ हो गया। हाथ उठाकर उँगली से इशारा करते हुए पूरी शक्ति लगाकर चिल्लाकर बोले—''क्यों बे साले, तू यहाँ कहाँ आया ! भाग जा अभी यहाँ से।'' लड़खड़ाती हुई आवाज़ से मतया के होश उड़ गए। उसका नशा मानो उतरने लगा। इतने में मुनुआ गली में से मेहतरानी का हाथ पकड़े दूसरे हाथ में लाठी लिये सामने आ निकला। अज़ीज़ मियाँ की गाली सुनकर मतया तिलमिला कर रह गया था। मेहतरानी को देखते ही पागल हो उठा। बढ़कर जो उसने लाठी मारी तो अज़ीज़ मियाँ ज़मीन पर आ रहे। मुनुआ ने उसकी लाठी छीन ली। मेहतरानी रफूचक्कर हो चुकी थी।

ख़बर फैलते देर न लगी। सारे मोहल्ले में सनसनी फैल गई। एक मुसलमान का हिन्दू के हाथ मारा जाना योंही क्या कम था। और फिर बक़रीद के दिन ! ज़रा सी देर में आग लग गई। हिन्दुओं ने दरवाज़े बन्द कर लिये। मुसलमान पेंशिनर पेशकार साहब के दर-

वाड़े पर, सलाह मश्वरे के लिये एकत्र हो गए। पुलीस मौक़े पर पहुँच गई। पुलीस का इन दिनों ऐसा दबदबा है कि जो पहले पुलीस को कुछ नहीं समझते थे वे भी अब उसके नाम से डरते हैं। बात बढ़ने नहीं पाई। बड़े बूढ़ों ने राय दी कि मामला अदालत ही पर छोड़ दिया जाय।

सुबह को पुलीस ने मेहतर के घर की तालाशी ली। बिना लेबुल के शराब की ख़ाली बोतलें मिलीं। अज़ीज़ मियाँ के घर की भी तलाशी लेनी पड़ी। एक वारन्ट के ज़रिये अज़ीज़ मियाँ गिरफ़्तार हो गए। मतया और अज़ीज़ मियाँ के न रहने पर मोहल्ले की सनसनी ख़तम हो गई।

आज जब मेरी दृष्टि बरामदे में "नेमबोर्ड" पर पड़ी तो "इन" और "आँउट" पर आँखें ठहर गईं। मेहतर का ख़याल आया। मैंने उसका "आउट", अर्थात् गली में सफ़ाई करना और "इन", अर्थात् बरामदे में बैठ कर शराब पीना, दोनों देखा था। सोचने लगा—क्या अब तक कोई ऐसा न हुआ जो उसका "इन" और "आउट" दोनों एक साथ मिटा दे।

ज़िन्दगी का जलूस—

कल जहाँ सुनसान विराना था और सिवाय एक पीपल के पेड़ के कुछ न था वहाँ सड़क के किनारे पान की छोटी सी दूकान है। यह उस छोटी सी सड़क का ज़िक्र है जिसका नाम बताना आवश्यक नहीं। वैसे तो सवेरे शाम उस सड़क पर से होकर आने जाने की मेरी आदत थी। किन्तु इधर कुछ दिनों से टहलने की आदत छूट जाने से उस बेचारी सड़क का भी साथ छूट गया था। फिर भी इस एक फ़र्लांग से भी छोटी सड़क से मैं जितना परिचित हूँ उतना दूसरी सड़कों से नहीं। वास्तव में परिचित ही क्या बल्कि मैं इसके चप्पे चप्पे को जानता हूँ। इस विशाल नगर की बड़ी बड़ी सड़कों की अपेक्षा मुझे यह नन्हीं सी सड़क अधिक पसन्द है। शायद इसका यह भी कारण हो सकता है कि आम-तौर से यह जितनी ख़मोश और सूनी मिलती है उतनी और सड़कें नहीं मिलतीं। इसे अच्छी हालत में शायद ही कभी किसी ने देखा हो। वैसे भी यह जानी हुई बात है कि छोटी चीज़ों की ओर, बड़ी चीज़ों की अपेक्षा, किसका ध्यान जाता है। अतएव, मरम्मत और देख भाल भी उन्हीं सड़कों की होती है जिन पर या तो अधिक "ट्रैफ़िक" हो या उनके किनारे किसी बड़े आदमी या

म्युनीसिपैलिटी के मेम्बर का मकान हो। परन्तु इस बेचारी सूनी ऊबड़ खाबड़ सड़क पर न अधिक मोटरें चलती हैं न किसी बड़े भले का मकान ही है। इस पर चलते चलते एक दिलचस्प चीज़ पर आम तौर से लोगों की नज़र जाती है। प्रायः आधी सड़क की स्थिति कुछ ऐसी ख़राब नहीं। किन्तु आधी की स्थिति बहुत ही ख़राब है। लोगों का विचार है कि इस आधी ख़राबी और आधी अच्छाई का कारण सिवाय इसके और कुछ नहीं कि यहीं-कहीं से म्यूनिसिपल बोर्ड और कैन्टोमेन्ट की बीच की "अनाथ भूमि" शुरू होकर ख़तम हो जाती है।

वहाँ चलते चलते मुझे आज छोटी सी पान की दूकान मिली। सड़क के नीचे दोनों ओर खेत और बाग़ हैं। एक ओर बाजरे के खेत, दूसरी ओर अमरूद और पपीतों का बाग़। बाजरे में रेंड के ऊँचे ऊँचे पौधे भी हैं, जो पता नहीं स्वयं उग आए हैं या उगाए गए हैं। अमरूद के किसी किसी पेड़ पर सदाबहार की अमर बेइलया अपनी विषैली लटों का जाल फैलाए हुए है। अमरूदों के बीच अडूस और धतूरे की झाड़ियाँ भी हैं। हर चीज़ का कोई न कोई ज्ञात या अज्ञात कारण होता है। शायद इस सारी व्यर्थ उपज का कारण गन्दे पानी का वह नाला है जो शहर का गन्दा पानी बहाकर यहाँ लाता है। उसी गन्दे पानी की पुलिया पर किसी पुराने छोटे या बड़े देव का पक्के चबूतरे पर स्थान है। यह विशाल पीपल का वृक्ष, जिसकी घनी छाया के नीचे अज्ञात काल से वह देव सोया हुआ है, देखने में इतना पुराना लगता है कि उसके निकट एकान्त का अनुभव होने पर डर लगता है। पीपल तथा देव दोनों एक दूसरे की प्राचीनता की ओर संकेत करते हैं। देव को पीपल के नीचे चबूतरे पर देखकर और भी अधिक भय लगता है, जो उस ओर से गुज़रने वाले धार्मिकों में भय और भक्ति के भाव उत्पन्न करता है। मुँह अँधेरे जब गाँव से ग्वाले गाय, बछवे, लोटा, बाल्टी लिये उस ओर से नगर को आते हैं तो शुद्ध दूध की धार पहले देव-स्थान ही पर गिरती है। गंगा स्नान करने वालों का भी वही रास्ता

है। सवेरा होते होते वहाँ इतना गंगाजल गिर चुका होता है कि गुढ़ल के फूल चबूतरे के ऊपर नन्हें नन्हें गड्ढों में तैरने लगते हैं। उस ओर से टहल कर लौटते समय गुड़हल के लाल लाल फूलों को देवस्थान पर मुस्कराते देखकर बहुधा मेरे रोंगटे खड़े हो गए हैं।

हाँ तो वह पान की दूकान कितनी छोटी दूकान और कितनी सुन्दर पान वाली। क्या सौदा और क्या सौदागर। उस उजाड़ में पान की दूकान देखकर बात कुछ समझ में न आई बल्कि परेशानी और बढ़ी। देव-स्थान से मिला हुआ पान वाली का चबूतरा मानो रातों-रात बन कर तैयार हो गया था। दूकान पर ध्यान से देखा तो मुश्किल से कुछ आने पैसों का सौदा रहा होगा। और पान वाली? लाख रुपये की! ख़ैर, यह तो भावुकता है। वास्तव में जिस चीज़ की लागत नहीं मालूम उसकी क़ीमत कैसे बताई जा सकती है। किन्तु यह भी क्या ज़रूरी कि हर चीज़ का मूल्य हो? पान वाली पान बेचने बैठी थी न कि अपने को। ये बहकी बहकी बातें हैं। असल बात यह कि जब मैं उधर से निकला तो एक छोटी सी पान की दूकान मिली। वहाँ दूकान देखकर कुछ आश्चर्य हुआ और पान वाली को देखकर ताज्जुब। जब आप किसी को देखिये तो उत्तर में वह भी आपको देखेगा, ऐसा मेरा अनुभव है। अतएव, जब मैंने उसे देखा तो उसने भी मेरी ओर देखा। उस सुनसान उजाड़ में छोटी सी दूकान पर बैठी सुन्दर पान वाली? इस प्रश्न-चिन्ह को मेरे चेहरे पर देखकर मानो उसकी ख़ामोश भूरी भूरी निगाहों ने मेरी ओर ग़ौर से देखकर जवाब देना चाहा। मौन सहानुभूति का सन्देश! मैं सोचने लगा—आख़िर पान वाली ने मुझे इस सहानुभूति से क्यों देखा? क्या मैं उसकी हमदर्दी का मोहताज था? मुझे देखकर अपरिचित होते हुए भी उसने परेशानी या घबराहट नहीं प्रकट की। जैसे मेरी और उसकी पुरानी जान पहचान हो। यह सोच कर मैं एक क्षण के लिये चौंका भी। मैं उसे जानता तो नहीं। आँखों

में चंचलता और तीखापन, किन्तु न निराशा न मधुरता, न दुख और न सुख, कुछ भी नहीं किन्तु फिर भी सब कुछ। आख़िर उन आँखों में था क्या ? पता नहीं। मैं अपना रास्ता तय करता रहा और बराबर ऐसा अनुभव करता रहा मानो उसकी निगाहें मेरा पीछा कर रही हैं। उसका गोरा रंग यों ही अर्थहीन सा था। लम्बा चेहरा, लम्बा गला, लम्बा क़द, लम्बे पैर, लम्बी लम्बी बाहें, लम्बी उँगलियाँ, सारांश यह कि हर चीज़ लम्बी। मानो वह लम्बाई की सुन्दर प्रतिमा थी। गन्दी मटमैली साड़ी और कलाइयों में दो दो चूड़ियाँ, बस ऐसा ही जैसा इस वर्ग की स्त्रियों का पहनावा होता है। होते होते मेरी आँखों के सामने एक दुबली पतली लम्बी नंगी स्त्री का ढाँचा फिरने लगा। ऐसा मालूम पड़ता था मानो उसकी नीली भूरी आँखें मेरी आँखों में समाती जाती थीं। और मैं सड़क पर चलता जा रहा था।

सट् सट् सट् ! बैल की नंगी पीठ पर कोड़े चिल्ला उठे। गाड़ी वाले ने गाड़ी के अगले तीसरे बैल को क्रोध में आकर पीट डाला। बैल के चमड़े के कोड़े से बैल को चोट लगी, किन्तु उसने अधिक तेज़ न चल सकने की विवशता अपनी पूँछ से शरीर पर से मक्खी झाड़ कर प्रकट कर दी। गाड़ी पर लदे हुए मिट्टी के तेल के ख़ाली पीपों की दुर्गन्ध मेरी नाक में घुसते ही गाड़ी वाले का क्रोध मेरे दिमाग़ में उतर आया। मैं और तेज़ चलने लगा।

अब मैं खुली चौड़ी सड़क पर पहुँच चुका था। सामने फैले हुए मैदान की हरियाली पर नज़र दौड़ाता हुआ क़दम बढ़ाए चला जा रहा था। तेल की दुर्गन्ध, बैलों से नफ़रत, गाड़ी वाले का ग़ुस्सा, पान वाली की नंगी तस्वीर, एक एक करके सब मेरे दिमाग़ से बाहर हो चुके थे। सामने एक ऐंग्लोइण्डियन छोकरा आता दिखाई पड़ा। उसकी बग़ल में साइकिल पर ऐंग्लोइण्डियन लड़की भी थी। दोनों एक दूसरे के कन्धे पर हाथ रक्खे बराबर बराबर साइकिलें चलाते चले आ रहे थे। बैलगाड़ी की लगातार घड़ड़ घड़ड़ से परेशान होकर मैंने बायीं

ओर देखा तो स्कूली लड़कियों की गाड़ी बग़ल से गुज़र रही थी। मध्यम वर्ग के घरों की छोटी कक्षाओं में पढ़ने वाली लड़कियों से गाड़ी इस तरह भरी थी जैसे "सारडिन" मछलियों का पाँच आने का टिन। सफ़ेद चमड़े वाले लौंडे ने गाड़ी में लड़कियों को देखकर अपनी "मिस" के कान में कुछ कहकर मुझे और लड़कियों को एक निगाह से देखा और मुस्करा पड़ा। मुस्कराया क्या हँसता हुआ निकल गया। 'मिस' के रंगे हुए गाढे लाल लाला होठों को देखकर मेरे अन्दर घृणा और क्रोध के भाव इस तीव्रता से उठे कि जैसे मुझे एक तूफ़ान के साथ सड़क पर उड़ाए लिए जा रहे हों। सहसा किसी चीज़ से खिंच कर मेरी दृष्टि दाहनी ओर मैदान में गई, जहाँ जगह जगह झाड़ियाँ और छोटे छोटे पौधे उगे हुए थे। संध्या समय हरी घास के मटमैले मैदान में सफ़ेद साड़ियाँ, जैसे गुलशब्बू का गुच्छा। बीच वाली लड़की आगे को झुकी नीचे देख रही थी। बाक़ी दोनों लड़कियाँ ज़मीन पर बैठी उसकी साड़ी से जैसे कोई चीज़ अलग करने में व्यस्त थीं। मेरे और उनके बीच तीन लोहे के काँटेदार तार खिंचे हुए थे। होस्टल की लड़की की साड़ी में से उलझा हुआ काँटा निकालने से मैं विवश था। किन्तु अपनी सहायता के बिना भी दुनिया के बहुत से काम हो जाते हैं। अतएव, साड़ी के किनारे से काँटेदार डण्ठल अलग हो चुका था और अब लड़कियाँ लम्बे लम्बे क़दमों से मैदान नाप रही थीं।

आगे बढ़ने पर कैन्टोमेन्ट के वे घर मिलने शुरू हुए जिनमें फ़ौजी अफ़सरों के रहने का प्रबंध है। तोप का मुँह ? मैं एकदम चौंका। हाँ सैनिक ही सही किन्तु फाटकों पर तोपों के दहाने काटकर गाड़ देने की क्या आवश्यकता थी ? किन्तु विचार कुछ ऐसा बुरा भी नहीं। आते जाते तोपों के मुंह देखकर दैनिक जीवन में भी फ़ौजी अफ़सर अपने वास्तविक जीवन को न भूल सकेंगे। बँगले अब ख़ाली पड़े हैं। यहाँ से हज़ारों मील की दूरी पर गोरे अफ़सर पता नहीं दुनिया के किस भाग में असली तोपों को सँभालते हुए स्मृति और कल्पना की सहायता

लेकर इन बँगलों के शान्तिपूर्ण जीवन को सोचते होंगे। किन्तु यह भारी लोहे के खोखले टुकड़े अब भी यहाँ तोप का काम कर रहे हैं। इन्हीं खोखले टुकड़ों ने मुझे यहां से उड़ाकर युद्धक्षेत्र में फेंक दिया था।

एक ओर पान की दूकान, कुछ बड़ी और पुरानी भी। इस दुकान और इस बुढ़िया पान वाली से कौन परिचित नहीं। दूर से ही देख कर मैं सोचने लगा—बुढ़िया बुढ़ापे में भी रुमानी नवयुवकों की सहायता किस लालच से करती है? बुढ़िया का मूल्य और लागत क्या? लागत तो मालूम नहीं, पर उसके मूल्य का अन्दाज़ा उन भूखे रुमानी नवयुवकों से लग सकता है जो उसका दूकान पर पता नहीं शहर के किस किस कोने से आकर बीड़े ख़रीद कर पान चबाते हुए अनजान और अनदेखी भोली भाली आत्माओं का सौदा करते हैं। सोचते सोचते मेरे दिमाग़ के पुर्ज़े गर्म होने लगे। आख़िर होस्टल के फाटक पर इस उतपाती बुढ़िया की दूकान क्यों? साड़ी के किनारे से काँटा निकालती हुई लड़कियों को मेरी आँखें ढूंढ़ रही थीं कि मेरी आँख में लोहे के काँटे चुभ गए। कुछ सन्तोष हुआ।

गाड़ी से निकलकर बैल सड़क पर मुँह के बल गिर पड़ा। पानी-गाड़ी हाँकने वाले ने एक ओर कूदकर जान बचाई, फिर बैल को उठाने की कोशिश करने लगा। किन्तु बैल रस्सी में बुरी तरह फँस कर गाड़ी के अगले भाग के नीचे दबा हुआ था। उसका निकालना कठिन था। मैं अभी कुछ दूर ही था कि एक इक्के वाला दौड़कर गाड़ी वाले की सहायता करने लगा। इतने में कालेज के तीन छात्र बग़ल से साइकिलों पर गुज़रे। उनकी नज़रें सड़क पर गिरे हुए बैल की तरफ़ गईं या नहीं, किन्तु उन्होंने होस्टल की ओर आँखें उठाकर एक नज़र ज़रूर देखा और मुस्कराते हुए आगे निकल गए। मैं बैल के पास पहुँचा ही था कि पीछे से एक मोटर निकली। सफ़ेदपोश मोटर वाले ने होस्टल के फाटक में मोटर मोड़ते हुए डाँट कर कहा—"अबे, बैल को

मार डालेगा क्या ?" मैं हक्का बक्का रह गया। पता नहीं मोटर वाले ने तेज़ आवाज़ से किस को डाँटा था। मोटर चलाने वाले के बग़ल में गोरी लड़की बैठी थी। उसने मुझे और सड़क पर गिरे हुए बैल दोनों को एक ही नज़र से देखा। बैल उठकर खड़ा भी हो गया था। उसकी सहायता मैं करने से रहा। अब मैं स्वयं ऐसी लाचारी में था कि किसी को मुझे ही पकड़ कर उठाने की ज़रूरत थी।

शहरों की नई बस्तियों में मकान बनते रहते हैं और साथ साथ मकानों के रहने वाले उनमें रहते भी हैं। काम होता रहता है और जीवन का काम भी नहीं रुकता। ईंटों की गाड़ी वाला बैलों को गाड़ी से अलग करके सड़क के किनारे बैठा पेशाब कर रहा था। गाड़ी का एक बैल आगे बढ़कर मिट्टी का एक बड़ा ढेर अपनी सींगों से उखाड़े डाल रहा था। अगले पैर मिट्टी खींच कर पीछे की ओर फेंक रहे थे। मानो अपनी बीती हुई जवानी और आज़ाद दिनों को याद करके आज बैल अपनी अकड़फूँ से दुनिया और जीवन को चुनौती दे रहा था। बेचारा दूसरा बैल, जो शायद कुछ अधिक यथार्थवादी था, खिंची हुई रस्सी के दर्द को साथी का ज़ुल्म समझकर सहने पर विवश था। इतने में ऊपर से आवाज़ आई—"ज़रा और लचक के चल, और लचक के।" और फिर ठहाके की हँसी। मैंने ऊपर देखा, मिस्त्री ईंट और लकड़ी के पायट पर खड़ा, हाथ में करनी बसूली लिये, मेरी ओर देखकर हँस रहा था। दूसरे मज़दूर और मिस्त्री भी काम बन्द किये नीचे की ओर देख रहे थे। देहाती स्त्री पता नहीं जवानी या बोझ के कारण सिर पर ईंटों की टोकरी लिये कमर लचकाती चल रही थी। जवान स्त्री के चेहरे पर मुस्कराहट का निशान भी न था। सीना आगे की ओर निकला हुआ, कमर कसी हुई, साड़ी का कोना मरदों की तरह पीछे खींच कर धोती की भाँति बाँधे हुए थी। दरअसल उन ईंटों के भार के नीचे जवानी क्या चाल चल रही थी। "चलो हाथ बढ़ाओ, शाम हो गई।" मकान बनवाने वाले काले बनिए की ललकार

से सारा मज़ा किरकिरा हो गया।

अब प्रोफ़ेसर साहब का मकान दूर न था। घड़ी देखकर मैंने क़दम तेज़ कर दिये। उनसे भेंट हो न हो। एक और मोड़ मिला और एक और पुलिया। पुलिया के किनारे काला बुड्ढा बैठा घास छील रहा था। बदन पर एक ऊनी चीथड़ा था जो शायद कभी कोट रहा हो। किन्तु उसका न अब रंग पहचाना जाता था न शक्ल। देखकर यह भी आसानी से नहीं बताया जा सकता था कि बुड्ढा उसे पहने था या कोट बुड्ढे को पहने था। जब बदन का अधिक भाग खुला ही था तो उसे पहने रहने की ज़रूरत कैसे पैदा हुई? इसका भी जवाब आसानी से नहीं दिया जा सकता। यह सोचने की बात है कि ग़रीब लोग अपने को इस प्रकार फटे पुराने कपड़ों से हम लोगों के लिबास का सिर्फ़ उपहास उड़ाने के लिये सजा लेते हैं या इन कपड़ों से इन लोगों को किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक सुख भी मिलता है। बात जो भी हो। अपने पुराने कपड़े नौकरों को पहना कर मैं हरगिज़ अपनी हँसी उड़वाना नहीं चाहता। बदतमीज़ी का यह हाल कि ऊपर बदन पर कोट और नीचे सिर्फ़ पतली कोपिन्नी जिससे शरीर के विशेष अंगों को ढंका भी नहीं जा सकता था। कूड़े करकट की गन्दगी में उगी हुई ज़रा-ज़रा सी घास की जड़ों में उँगलियाँ डालकर खुरपे की धार से उन्हें काटे डाल रहा था। विचारों की धारा को मोरी के सिरे पर लड़ते हुए लौंडों ने तोड़ा। मोरी में हाथ डालकर सफ़ाई करते हुए उनमें से एक को पैसा मिल गया था। उसी पैसे के लिये कीचड़ से सने हुए हाथों से मारपीट हो रही थी। वहाँ की तीव्र दुर्गन्ध से बचने के लिये मैं जल्दी जल्दी चलने लगा। भीगी हुई झाड़ू और कुदाली देखकर मैंने नतीजा निकाला, पुलिया साफ़ हो रही है। अब की जो साँस रोक कर मैं आगे बढ़ा तो फिर प्रोफ़ेसर साहब के सोफ़े ही पर जाकर दम लिया।

उनके वहाँ से लौटते समय अँधेरा हो चुका था। सिवाय अँधेरी सड़क और बिना रोशनी के नए मकानों के और कुछ नहीं दिखाई

पड़ता था। मैं विचारों में खोया हुआ सूनी गलियों तथा सड़कों पर से होता हुआ चला आ रहा था। लौटते समय भी वही बेतरतीब ख़याल दिमाग़ पर छाए जा रहे थे। जैसे-जैसे मार्ग तय करता जाता जगह जगह की बातें याद आतीं।

मोरी की दुर्गन्ध वायुमण्डल में खो गई थी। मेहतर के लौंडे बाज़ार में कुछ ख़रीदने की सोच रहे होंगे। बूढ़े की मेहनत की घास भूखी बकरी खाती होगी। बूढ़ा, ग़रीबी के किसी कोने में बैठा, बकरी के बच्चों को मार मार कर बकरी के थन से अलग करके थन पर कपड़े की थैली बाँधता हुआ सोच रहा होगा कि कल कहाँ अधिक घास मिलेगी। ईंट ढोने वाली देहाती स्त्री मोटी मोटी रोटियाँ तवे पर सेंकती होगी। दिन भर गाड़ी खींचने के बाद बैल बासी सानी-भूसा खाने में लगे होंगे। बुढ़िया पान वाली की दूकान पर लालटेन जल रही थी। लड़कियों के कमरे बिजली की रोशनी से जगमगा रहे थे। काँटा पेड़ के नीचे पड़ा साड़ी के किनारे का स्वप्न देख रहा होगा। जाड़े की रात की ओस से तोपों के दहाने ठण्डे हो रहे थे। बैलगाड़ी वाले का ग़ुस्सा बनिये से दिन की मज़दूरी पाने पर शायद शान्त हो गया हो। मिट्टी के तेल के टिन बनिये का बड़ा घर अपनी दुर्गन्ध से भर चुके होंगे।

जब मैं उस बेमरम्मत छोटी सी सड़क के सिरे पर पहुँचा तो उसे सोया पाया। अँधेरी सड़क पर पहुँचकर आँखों ने देखने का काम बन्द कर दिया, किन्तु अन्धों की भाँति सुनने की शक्ति तीव्र हो गई थी। सड़क के माथे पर क़दम रखते ही मेरे दिमाग़ पर जादू जैसा असर होने लगा।

चेतना इस प्रकार जाग गई थी कि सड़क पर पाँव रखते ही ऐसा अनुभव किया मानो पान वाली के सिरहाने मैंने क़दम रख दिए हों। बग़ल के मकान से गाने की आवाज़ अँधेरी झाड़ी को पार करती हुई आने लगी—"दीवाना हूँ दीवाना हूँ मैं, राहत से बेगाना हूँ।" क्या

गला और क्या दर्द। आख़िर हज़ारों रुपए माहवार कमाने और ख़र्च करने वाले आदमी की ज़िन्दगी में कौनसी ऐसी कमी हो सकती है जो बेकारों और अवारों के खोखले दिल और दिमाग़ के दर्द और निराशा को गाकर नहीं बल्कि रोकर वह इस तरह व्यक्त कर सकता है। कैसा होगा उस आदमी का मन जो सब कुछ रखते हुए और सब कुछ होते हुए भी कुछ न होने के दर्द को इस तरह व्यक्त करके वायुमण्डल में दर्द की ऐसी थरथराहट पैदा कर सकता है? क्या इस संसार की यह भी विशेषता है कि धनी सुखी और उच्च व्यक्ति ही दुखियों की ग़रीबी दुःख और अपमान को अधिक समझ सकते हैं और भरे हुए पेट से उसकी सच्ची तस्वीर खींच सकते हैं? क्या कभी भी चरित्रहीन चरित्र वालों के दिया दिखाए बिना अपना रास्ता नहीं देख सकते?

दिया। हाँ वह दिया अब भी जल रहा है। देवस्थान पर पुराने पीपल के नीचे रात्रि के अन्धकार में दिये के धुँधले प्रकाश में पीपल को देखकर फिर मुझे डर लगने लगा। पान वाली का ख़याल आया। इस समय वह कहाँ होगी? उसकी दूकानदारी कहाँ हो रही होगी? क्या उसने छोटी दूकान से अब तक इतना कमा लिया होगा कि कल के व्यापार के लिये वह अपनी गोरी दुबली लम्बाई को क़ायम रख सके?

ज्यों ज्यों देवस्थान के निकट पहुँचता जाता मुझपर डर का भाव क़ाबू पाता जाता था। डर को दूर रखने के ख़याल से मैं तेज़ क़दम चलने लगा ताकि जूतों की आवाज़ से टूटती हुई हिम्मत बँधे। देवस्थान के निकट पहुँच कर देखा। आज दिया देवस्थान से हट कर पान की दूकान पर जल रहा है। शायद पान वाली ने सोचा हो, वहाँ एक ही दिया जल सकता था, देव का या पान वाली का! जब मैंने डरते डरते उस ओर देखा तो दिये के प्रकाश में दूकान की प्रत्येक चीज़ अलग अलग रक्खी दिखाई दी।

परन्तु? पान वाली दूकान सूनी छोड़ कर कहाँ चली गई! डर की हालत में मैं सड़क पर ज़ोर ज़ोर से पाँव पटक पटक कर चलने

लगा। किन्तु उस मानसिक प्रश्न के साथ मेरे क़दमों की आवाज़ की प्रतिध्वनि से मिली हुई पीपल के वृक्ष के मोटे तने के पीछे खुरखुराने की आवाज़ पैदा हुई। मेरा दिल धक् से हो गया। डर ही के भाव ने मुझे वहाँ से डरकर भागने से रोका। दिल ज़ोर से धड़क रहा था और उससे अधिक तेज़ी से मेरे क़दम उठ रहे थे। कुछ दूर आगे जाकर मैंने डरते डरते फिर घूम कर देखना चाहा। किन्तु यह क्या ? होश उड़ गये। पान की दूकान पर एक लम्बी स्त्री खड़ी थी। जान निकल गई। आख़िर वह कौन हो सकती है ? और तेज़ चलते चलते मैंने अपने से पूछा। जवाब के लिये डरते डरते फिर घूमकर देखना चाहा। एकाएक एक आदमी पीछे झाड़ी से निकल कर सड़क पर चलने लगा। अब मैं अर्धमूर्छित दशा में शायद यही सोचने की चेष्टा कर रहा था कि कोट पतलून पहने कौन आदमी हो सकता है, और वह मेरा पीछा क्यों कर रहा है ? अभी तो पीपल के नीचे कोई नहीं था। मैंने फिर घूम कर देखा, वह आदमी दाहने वाले बँगले में ग़ायब हो चुका था। मैं काठ के पुतले की भाँति दायें बायें देखता जा रहा था। अचानक एक अत्यन्त भयानक मिली जुली गड़गड़ सी तीव्र आवाज़, जो कुछ कुछ गाने से मिलती जुलती थी, बग़ल के बँगले से उठी। मैं और घबराया। आख़िर यह क्या हो सकता है ? आवाज़ ऐसी थी मानो किसी ने ग्रामोफोन के कई ख़राब रेकार्ड रखकर एक साथ बजा दिये हों। चौराहे पर पहुँच कर ख़याल आया, वहीं कहीं एक पहाड़ी सज्जन का मकान था। पहाड़ी गाना बज रहा होगा।

कमरे में पहुँचकर नशीले धुएँ का बादल अपने गिर्द फैलाकर सोचने की चेष्टा कर रहा हूँ। यह क्या देखा ? कैसी ज़िन्दगी का जलूस ? यह भी क्या कोई ज़िन्दगी हुई ?? या यही ज़िन्दगी है ???

चीज़ों को सोचने और समझने के लिये दिमाग़ पर ज़ोर डाला परन्तु कुछ समझ में न आया। फिर क्या देखता हूँ—ग़रीबी और दरिद्रता का कमण्डल हाथ में लिये लोगों से यह कह कर स्वयं भीख

माँग रहा रहूँ कि मैं और भिखारियों से अच्छा भिखारी हूँ। तो क्या यही गन्दगी मैं हूँ और यही है वह पान वाली, जो देवस्थान से दीप उठाकर अपनी दूकान पर रक्खे इस अँधेरी रात में भी दूकानदारी कर रही है। गाड़ी के बैल, गाड़ीवान, ईंट ढाने वाली स्त्री, घास छीलने वाला बुड्ढा, मेहतर के लौंडे सभी सामने क़तार बाँधे खड़े थे। फिर मुझे अपने मित्र प्रोफ़ेसर की याद आई। जब मैं उनके सोफ़े पर बैठा था तो उनके बड़े और छोटे दोनों कुत्ते फ़र्श पर खेल रहे थे। छोटा कुत्ता नहीं बल्कि कुत्ते का पिल्ला था। उसे बड़ा कुत्ता खेल के भाव से मुँह में दबाए इधर उधर लिये फिर रहा था। वह उसका खेल था। कुत्तों के उस खेल में मैंने देखा समाज की एक झलक और ज़िन्दगी का जलूस। सोचता हूँ—हम सभी छोटे बड़े कुत्ते हैं और एक दूसरे की प्रसन्नता या अप्रसन्नता के बावजूद एक दूसरे को मुँह में दबाए लिये फिरते हैं।

अधूरी चिट्ठी—

......,

आज प्रातःकाल जब थका हुआ उठा तो प्रत्येक वस्तु धुँधली मालूम हो रही थी। चारों ओर बादल सा छाया हुआ था। दवा पीते समय माँ से पूछा—"अभी से इतना अँधेरा क्यों हो रहा है?" उत्तर में उनकी उदास आँखों को मौन धारण करते देखा, किन्तु धुँधलापन बढ़ता ही गया। धीरे धीरे बाहर का धुँधलापन भीतर अनुभव करने लगा। दोपहर का भोजन सामने आया किन्तु खा न सका। सो रहा। अभी नींद खुली तो तकिये के नीचे तुम्हारी चिट्ठी मिली। तुम्हारी चिट्ठी! आँखें चमक गईं, दुनिया फिर से रोशन हो गई। काँपती हुई उँगलियों से लिफ़ाफ़े को फाड़ा। यही विचार मस्तिष्क को धुन रहा था—मैंने तो समझा था कहानी ख़त्म हो चुकी। डाक्टर की राय तुम्हें भी मालूम हो गई होगी। फिर तुमने मुझे ख़त क्यों लिखा?···ख़ैर, ख़त के लिये धन्यवाद, यदि ऐसे आदमी का धन्यवाद कोई अर्थ रखता हो। हाँ, तो तुमने ख़त का जवाब देने से मना किया है। तुम्हारी इच्छा है कि इसे मैं आख़री पत्र समझूँ। मुझे इससे आपत्ति नहीं। तुम्हारी इच्छा स्वीकार, किन्तु·····किन्तु जिसका

आरम्भ नहीं था उसका आज अन्त बनते हुए एक अज्ञात आन्तरिक भय से काँप उठता हूँ। ख़ैर, एक ही बात हुई। मैं समझता हूँ मेरी अन्तिम इच्छा मान लेने में तुम्हें भी आपत्ति न होगी। अन्तिम पत्र मुझे ही लिखने दो।

तुमने लिखा है, मेरे लिये तुमने सब कुछ करने का प्रयत्न किया, मुझे प्रसन्न करने में तुमने कुछ उठा नहीं रक्खा......मेरी होकर रहने की मेरी इच्छा को सफल बनाने के लिये तुमने सब कुछ किया, किन्तु जग-जीवन ने तुम्हें सफल न होने दिया। इसका तुम्हें दुख है...... हमारे तुम्हारे मार्ग अलग हो चुके हैं......मैं तुम्हें भूल जाऊँ और माफ़ कर दूँ...समय ही ने हमें और तुम्हें मिलाया था, उसी से अलग भी कर दिया...तुम्हारी राय है, समय के आगे सिर झुका कर हमें और तुम्हें उसका निर्णय शान्ति से सुन लेना चाहिये। तुम यह भी सोचती हो कि यदि इससे और आगे तुम मेरे साथ उस मार्ग पर चलने की कोशिश करतीं भी तो वह हमारे सुख का कारण न होता।

अत्यधिक कमज़ोरी की हालत में पत्र का उत्तर लिखने बैठ गया। किन्तु समझ में नहीं आता कि क्या लिखूँ। तुमने मेरे लिखने के लिए छोड़ा ही क्या है? जो कुछ तुमने लिखा है वह इतना ठीक और उचित है कि बस जी यही चाहता है कि तुम्हारे ही शब्दों को बार बार दोहराऊँ। तुमने मेरे लिए सब कुछ करने की कोशिश की, कोशिश ही क्या बल्कि सब कुछ किया भी। मुझे सुखी बनाने में तुमने कुछ उठा नहीं रक्खा। वह तुम्हारी कृपा थी। इसके अतिरिक्त और मैं क्या कह सकता हूँ।

समझा था जेल के जीवन ने मेरी कमर ही तोड़ दी थी। बाहर निकल कर अपने को आदमी नहीं समझता था। जीवन से और आशाएँ नहीं रह गई थीं। जेल में आदमियों ने मुझे आदमी से हैवान बना दिया था। तुम्हारे घर भी जाने को जी नहीं चाहता था। इसका यह मतलब नहीं कि तुम्हारे घर वालों का ख़याल मेरे प्रति कुछ बदल गया

था। इसके विपरीत, तुम्हारे घर की एक एक चीज़ मेरे वास्ते तुम्हारी बहेन की स्मृति होकर रह गई थी। उन बेचारी ने मेरे साथ चाहे जो कुछ भी किया या कुछ भी न कर सकी हों। किन्तु जहाँ तक मेरा प्रश्न था मैं यह कैसे भुला सकता हूँ कि मेरे बनाने या बिगाड़ने में उनका हाथ है। तुम्हें सब मालूम ही है।

मेरे यौवन का वह प्रभात था। अनजान पथिक की भाँति रास्ता ढूँढने में व्यस्त था। दूसरे जब उस प्रभात में जीवन की वाटिका में फूलों से अपना मन बहला रहे थे तब मैंने अपने सिर पर बहुत बड़ा बोझ रख लिया। ऐसे लोगों की संगत में पड़ गया जो जीवन का पहला और अन्तिम उद्देश्य केवल दूसरों का भला करना समझते थे। उनके साथ शहर में नहीं बल्कि शहर के बाहर बाहर पागलों की तरह फिरा करता। रातों को छिप छिप कर ऐसी किताबें पढ़ता जिन्हें देख कर दूसरे दिन के वक्त डरते थे। मीलों चलता और दौड़ता और बहुधा घर से ग़ायब रहता। एक शहर से दूसरे शहर रात के अंधकार में साइकिल चलाता चला जाता। उन बातों को सोच कर आज थकावट महसूस कर रहा हूँ। जिन उँगलियों में आज क़लम नहीं सँभलती उन्हीं में एक दिन उन लोगों ने रिवॉलवर पकड़ा कर कहा—"जाओ अपना काम करो।"

लेकिन फिर भी जीवन इतना कठोर और कठिन हो गया था कि कभी कभी उसके कड़े बन्धनों से बदन के जोड़ जोड़ टूटने लगते।

बहुधा ऐसा अनुभव करता जैसे जीवन का कोई आधार ही नहीं रहा। वास्तविकता से दूर हटकर, केवल भावुक होकर रह गया था। प्रत्येक चीज़ एक ख़ास मानसिक दृष्टिकोण से देखता और सोचता। जिस मार्ग को जीवन का मार्ग बना लिया था उस पर आफ़त मुसीबत और कठिनाइयाँ झेलते हुए चलता चलता थक जाता। कभी जी चाहता कि उस भारी बोझ को सिर से उठाकर, फेंक दूँ। रास्ते के किनारे की छाँव और हरियाली में ज़रा बैठकर दम ले लूँ। किन्तु ऐसा सोचते समय अनुभव करता मानो वह रिवालवर,

जो जेब में थी, उसे कोई मेरे सर पर ताने है। लाचार आगे बढ़ता जाता—जिन फ़ौलादी जंज़ीरों में मानवता जकड़ी हुई थी उन्हीं को तोड़ने के लिए।

उसी समय वह सड़क के किनारे मुझे मिली। उसकी ग़रीबी और सरलता ने मेरी आँखों में आँखें डालकर इस तरह देखा कि मुझे ठहर कर उसका सन्देश सुनना ही पड़ा। किन्तु सर से बोझ उतारा था कि उसका जादू सर चढ़ गया। (उसकी सरलता, भोलापन और पवित्र यौवन ने छापामार सिपाहियों की भाँति मुझे घेर लिया)।

तुम्हारी बहेन मेरे वास्ते "पुलोवर" बुन रही थीं। उँगली और सलाई में ऊन के फन्दे डालकर मेरा सीना नापने आईं। उन्हें इतना कष्ट उठाते देखकर जब मैंने आपत्ति की तो जवाब में उन्होंने मुस्कुराकर कहा—"क्यों, जाड़ा पड़ना तो शुरू भी हो गया! आख़िर वह तो बुनकर दे नहीं देगी?" उनके मुँह से यह सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ, परेशानी हुई और फिर शर्म से आँखें ज़मीन में गड़ गईं। वह पहेली अर्थात् वह बात उन्हें कैसे मालूम हुई? जब मैंने सोचने का प्रयत्न किया कि जाड़े से मेरी रक्षा करने का भार आख़िर उन्होंने अपने ऊपर क्यों ले लिया तब मैंने ऐसा अनुभव किया मानो कोई मख़मली दस्ताने पहन कर मुझे छू रहा है।

अभी उस पहेली को सुलझा ही रहा था कि उनका ख़त लेकर तुम आईं। ख़त के मज़मून से तो तुम अपरिचित थीं किन्तु बारह वर्ष की आयु में एक अत्यन्त ज़िम्मेदारी के कार्य को जिस ग़ैर ज़िम्मेदारी से तुमने करने की चेष्टा की उसका परिणाम है कि जिस काम को वहीं ख़तम हो जाना चाहिये था वह तुम्हारे उस बेवक्त मुस्करा देने के कारण आज भी हमारे तुम्हारे सिरों पर बोझ बना हुआ है।

उनसे जो कुछ मिला उसको ज़िक्र आज मुझसे नहीं हो सकती। सौंदर्य और प्रेम की कल्पना मुझ से बहुत दूर रह गई है। रोग-शैया पर केवल कुरूप और कष्टदायक चित्र समाने आते हैं। किसी चीज़ की कमी

उसकी ख़ूबी से अधिक हो सकती है, यानी किसी चीज़ की सीमाएँ उस चीज़ से अधिक होती हैं यह मुझे उसी समय ज्ञात हुआ। उन्हें पाकर चाहे मुझे समस्त सृष्टि को पा लेने का अनुभव क्यों न हुआ हो, किन्तु इसमें क्या सन्देह कि एक वर्ष से कम ही के समय में मैंने उन्हें मिट्टी में मिलाकर रख दिया। मेरे कारण जो दुख और कष्ट उनके हिस्से में आया उसका अनुमान मैं अपनी मानसिक पीड़ा से ही लगा सकता था। छः महीने तक मैंने चैन नहीं जाना। दिन भागने दौड़ने में बिता दिये, रातें जागते कट जातीं। सिर दर्द से और आँखें आँसुओं से बोझल रहतीं। उनके अतिरिक्त मेरा एक ही और साथी था—ईश्वर। उसका भी साथ छूट गया या छोड़ना पड़ा। मैंने शायद ठीक ही सोचा, एक दयालु शक्ति के होते हुए दो निर्दोष आत्माओं को इतना कष्ट क्यों पहुँच सकता है!

पता नहीं वह सुख या दुख का अवसर था। मैं उसे रूमाल में लपेट कर अपनी जेब में रक्खे डरता डरता तुम्हारे घर से चला। दो मील से अधिक का रास्ता उस तेज़ी से काटा जैसे बहुत बड़ा अपराध करके कोई काटता है। बराबर ऐसा अनुभव कर रहा था मानो मेरी गर्दन की ओर किसी के तंजे बढ़ते आ रहे हैं। नदी के किनारे पहुँच कर अपनी छः महीने की मुरदा निशानी का मुँह अन्तिम बार देखने के भाव को दबा कर काँपते हुए हाथों से बढ़ते हुए नदी की लपकती लहरों को सौंप दिया। मेरे जीवन की वह दूसरी हत्या थी। पहली हत्या मैंने और उन्होंने मिलकर की थी, जब उस देहाती लड़की का ख़त हम लोगों के समाने जला दिया गया, जिसे उसने न जाने किस मूल्य पर किसी पढ़े-लिखे आदमी से लिखवाकर भेजा था। ख़ैर, उसी के छः महीने बाद, तुम्हें याद होगा, मुझे अन्तिम पत्र लिखकर वह अपने जीवन-साथी के साथ चली गईं। तुम्हारा पत्र देकर उनके पत्र की याद आज बुरी तरह सता रही है। अब लिखा नहीं जाता, किन्तु लिखना पड़ेगा।

उसके बाद की बातें तुम्हें मालूम हैं और किसे नहीं मालूम ! वेश्या की छोकरी से भेंट हुए कितने दिन हुए ही थे। किन्तु किस आसानी से उसने मुझे छः वर्ष के लिये पुलीस के हवाले कर दिया। पता नहीं उसने सचमुच रिवालवर देखा था या नहीं। मेरे लिये तो वह चीज़ इतनी पुरानी हो गई थी कि रक्खे रक्खे मोरचा भी खाने लगी थी। कारण यह था कि उस समय मैं सड़क के बीच से हटकर सड़क के बायीं ओर से चलने लगा था। लेकिन मैं सड़क के किसी ओर से चलूँ। उसके प्रति सहानुभूति मुझे सिनेमा-हाल में उत्पन्न हुई थी। जैसा कि उसका कहना था, वह मेरे ही जैसे व्यक्ति की खोज में थी, जिसकी आत्मा के प्रकाश में वह अपने जीवन के मार्ग पर चल सकती। हुआ भी ऐसा ही। मुझे भी किसी ऐसे व्यक्ति की तलाश थी जो मुझे समझ सकता और मेरे घाव पर मरहम लगाता। (क्या पता था कि जिसके प्रेम का मैं शिकार हो चुका था वह वास्तव में किसी और की गुलाम थी, जिसकी उन्नति और भले के लिये वह क्या कुछ नहीं कर सकती थी।) यह तो अदालत के फैसले में छः वर्ष की कड़ी सज़ा के साथ साथ मालूम हुआ कि चूँकि मेरा सड़क की बायीं पटरी पर चलना व्यवस्था के संचालकों की दृष्टि में और भी ख़तरनाक लगा था इसलिये वेश्या की छोकरी को चाहनेवाले सी० आई० डी० इन्स्पेक्टर ने मुझे सड़क के बीच में चलने के पुराने जुर्म में गिरफ्तार करके अपनी तरक्क़ी सरकार और समाज तीनों को एक ही साथ लाभ पहुँचाया। जो बात वेश्या के घर में पुलीस से घिर कर गिरफ़्तार होने के बाद भी न जान सका वह अदालत में समझ में आई। किन्तु स्त्री पुरुष से प्रेम कर भी सकती है सो बात आज तुम्हारा पत्र पाकर भी न जान सका।

खाँसी शुरू हो गई। शायद पत्र पूरा न कर सकूँ—

यद्यपि जेल के फाटक से जब मैं छूट कर निकला उस समय मेरी आयु २९ वर्ष से अधिक नहीं रही होगी, किन्तु ऐसा अनुभव कर रहा

था मानो जीवन के कम से कम ५६ वर्ष बीत चुके। जिस धुरी पर मेरा जीवन चक्र घूमता था मानो अब वह रहा ही नहीं। फिर कैसे कुम्हार का चाक घूमता और मिट्टी से मेरा निर्माण होता ! ख़ैर ! उस क़िस्से को भी छोड़ो और उस दिन को सोचो जब तुम्हें मुझसे सहानुभूति हुई। यों तो, जैसा तुम कहती रही हो, तुम्हें पहले पहले मुझ पर उस समय तरस आया जब तुम्हारी बहिन मुझसे जुदा होकर अपने घर चली गईं। यों तो मेरी और उनकी बातें तुम्हें ख़त के लाने और ले जाने में मालूम हो गई थीं। किन्तु वास्तव में मुझ से प्रेम या सहानुभूति (स्त्रियों के सामने प्रेम पहले शायद सहानुभूति के रूप में वहम का लिबास पहन कर आता है) तुम्हें उस समय हुई जब मैं बन्दी जीवन से मुक्त होकर बाहर निकला। अब तो बड़े ज़ोर की खाँसी आ रही है, लिखना कुछ देर के लिये स्थगित करना होगा। कुछ दिनों से मुंह से ख़ून आना बन्द था सो अब फिर आने लगा...

पत्र तो पूरा ही करना है। माँ चारपाई पर लेटा गईं और पत्र न लिखने की ताकीद कर गई थीं इसलिये अब लेटे ही लेटे लिखूँगा। किन्तु जैसे जैसे पत्र लिखता जाता हूँ, ऐसा अनुभव कर रहा हूँ मानो भीतर ही भीतर सारी शक्ति समाप्त हुई जा रही है—जैसे किसी कोने में वह शक्ति समाई जाती है। पता नहीं सिर चक्कर कर रहा है या कमरे की दीवारें भी। किन्तु पत्र पूरा करना है—याद नहीं क्या लिख रहा था—हाँ वह तुम्हारी बात—तो जिस समम मैं दुख दर्द के अथाह समुद्र में डूब उतरा रहा था उस समय तुमने मेरे जीवन की पतवार सँभालने का भार उठाया। अपनी बहेन की अधूरी कहानी को पूरी करने की तुमने क़सम खाई। किन्तु तुम्हारी बातों का कोई अर्थ नहीं निकाल पाता था। तुम्हें देखकर मानो अपनी आँखों का विश्वास भी न होता। लेकिन ऐसा अवश्य अनुभव करने लगा जैसे कोई अन्धे को रास्ता बताने का प्रयत्न कर रहा है। तुम्हें साथ पाकर मेरी सोई हुई आत्मा फिर से जाग उठी। मैंने कमर सीधी करके एक बार फिर से

चलने की कोशिश की। मेरे हौसले लौट आए। अरमान जाग उठे, आशाएँ मुस्कराईं। सड़क के बायें हाथ से चलने वाले छोटे और नीचे गिरकर मानो मौत की नींद सो गए थे। उन्हें जगाया, हिम्मत बँधाई। किन्तु अभी कुछ ही दूर चल सका था कि इस बीमारी ने—उँगलियाँ कमज़ोर होती जाती हैं। लिखा नहीं जाता, आँखों के नीचे कागज़ पर पंक्तियाँ काँप रही हैं। खाँसी लिखने नहीं देती, किन्तु यह पत्र—

आज जवानी कहानी बनकर याद आ रही है। मानो किसी ने जीवन का पुतला बनाकर जला दिया हो और अब जले हुए कण आँखों के सामने सियाही के बादल बनकर छाए जा रहे हैं। हाँ तो मैं फिर चलने लगा था। मेरे पीछे वे असंख्य भूखे और नंगे पीड़ित इनसानी पुतले थे। आगे आगे तुम चल रही थीं। ऐसा लगता था मानो तुम किसी ऊँची पहाड़ी पर चढ़ती जा रही थी। पहाड़ की ठण्डी नर्म रेशमी घास पर तुम्हारे फूल जैसे पैर बर्फ़ की गेंदों के समान पड़ते थे। तुम्हारी लाल एड़ियों की ज्योति से मेरी आँखें जलने लगतीं। पुतलियों में वह ज्योति लपटें बनकर ऊपर की ओर उठतीं। मैं ऐसा अनुभव करता मानो मेरे सामने चिता जल रही है। ये लपटें अपनी ओर बुलातीं—मुझे चिता बुला रही है। डर लगता है यह पत्र पूरा न हो सके। शक्ति दो। मेरी अन्तिम माँग है, किन्तु शायद तुम—

हम तुम कैसे एक हुए, मुझे पता नहीं। हमारे तुम्हारे जीवन के मार्ग किस तरह आकर मिल गए, मुझे यह भी मालूम नहीं। तुम्हारा यह लिखना कि हमारे तुम्हारे मार्ग अलग हो चुके हैं यों भी सच हो चुका था जब डाक्टर का मुँह देख कर मैंने अपने भविष्य का अनुमान कर लिया। किन्तु अब सोचता हूँ कि हम तुम एक हुए ही कब। लगता है मानो अनन्त के द्वार से बर्फ़ की गेंदों की भाँति हम दोनों फेंक दिये गए थे। पहाड़ी पर से ढुलकते हुए हम दोनों एक जगह पहुँच कर मिल गए। किन्तु जब नीची ऊँची ज़मीन पर से गुज़रने लगे तो टूट कर अलग हो गए। शायद गल कर हम कभी मिल भी जायँ।

किन्तु वह मेरी अन्तिम इच्छा नहीं है। मैं यहाँ से मुट्ठियों में बाँध कर कोई आशा नहीं ले जाना चाहता। इतना जानता हूँ कि यदि हम मिलेंगे भी तो मैं मैं नहीं रहूँगा और तुम तुम नहीं—फिर अँधेरा छा रहा है, फिर वही काले बादल घेरे आ रहे हैं। आँखों के नीचे धुँधलापन फैलता जाता है, किन्तु पत्र समाप्त होना है—

मैं क्या नहीं कर सकता था। क्या-क्या मेरी आकांक्षाएँ नहीं थीं। मेरे जीवन का भी कोई उद्देश्य था, किन्तु अफ़सोस! आरम्भ ही से मेरे जीवन दीप की बत्ती दोनों सिरों पर जल रही थी। उस समय मैंने इसकी परवाह न की। परन्तु जो सब से बड़ी भूल हुई वह यह थी कि मैंने हमेशा किसी को आधार बनाकर अपने जीवन का निर्माण करने का प्रयत्न किया। उसका परिणाम यह हुआ कि मैं उस बरगद या पीपल के पौधे की भाँति होकर रह गया जो किसी पेड़ के ठूँठ में उग कर पनप नहीं पाता। जीवन स्वयं ही एक बहुत बड़ी शक्ति है और उसी शक्ति से मुझे पराजित होना पड़ा। हर बुरी चीज़ को बिगाड़ कर बनाने के मन्सूबे रखता था। किन्तु न कुछ बना सका और न बिगाड़ सका। उसके बजाय मैं उनके हाथों लुट गया जो मेरा हाथ बँटाने आए। उफ़, अब तो बिलकुल दिखाई नहीं देता। क्या लिखूँ? दवा पी लूँ। इस ख़त को पूरा करना है।

किन्तु यह कडुवी दवा पी ही क्यों, जो जीवन को बढ़ाने के बजाय घटाए जा रही है···शायद इस जीवन का कोई प्रभात और सन्ध्या नहीं। इसका प्रभात ही सन्ध्या भी हो सकती है। परन्तु मैं लिख क्या रहा हूँ, तो क्या पत्र पूरा न हो सकेगा? होगा!

तुम लाल सेंदूर से सोहाग रचा कर, अपनी एड़ियाँ रंग कर किसी और के साथ जा रही हो। यही तुम्हारी बहेन ने भी किया। परन्तु यह क्या! मेरी आँखों में फिर वही लाल लपट!! चिता की लपटें बुला रही हैं मुझे। ख़ून! इस ख़त को छूना मत, यदि पढ़ना तो दूर रख कर। परन्तु मेरा गला सूख रहा है, भीतर से जैसे कोई फेफड़े दबा रहा

है। अब मुझे जाना ही होगा। काश मैं चारों के कन्धों पर सवार होकर जाता। किन्तु तुम जा रही हो, वह कभी की जा चुकी, वह कभी आई नहीं, और उसे आने नहीं दिया। किसी ने मेरा साथ नहीं दिया। लेकिन यह क्या हो रहा है, दम घुटा जाता है......मैं दुनिया में क्या नहीं कर सकता था। परन्तु—परन्तु— तो क्या यह चिट्ठी......

टूटे हुए दिल–

गुम्टी से गाड़ी गुज़र चुकी थी। रुके हुए आदमी इस पार से उस पार आने जाने लगे। मैं जब कुछ दूर ही था तो गुम्टी के उस ओर से आती हुई एक स्त्री नज़र आई। अधेड़ अवस्था की मैली कुचैली स्त्री। बदन पर शहरी रहन सहन की झलक और चेहरे पर शहर के बाहरी हिस्सों में रहने वालों की ग़रीबी अंकित थी। शायद देहात से चूड़ियाँ बेच कर आ रही थी। इस ओर से कोई देहाती स्त्री शहर से मज़दूरी करके घर लौट रही थी। गाड़ी गुज़रते समय, जब गुम्टी का फाटक बन्द था, उसने अपनी पाँच छः वर्ष की लड़की को गोद से ज़मीन पर उतार दिया था। गन्दगी में सनी हुई बच्ची चूड़ी वाली को देख कर धूल में पाँव रगड़-रगड़ कर रोने लगी। देहाती स्त्री के सिर पर छोटी सी गठरी थी। सिर का बोझ सँभालते हुए उसने झुक कर लड़की को उठाना चाहा। किन्तु मनाने का असर बच्चों पर जैसा आम तौर से होता है, वह हट के मारे धूल में लोट लोट कर रोने लगी। "आओ बच्चा आओ, घर पर तुमको चूड़ी देंगे।" किन्तु वह कब मानती। चूड़ी वाली की ओर उँगली देखा कर ज़ोर ज़ोर से रो रही थी। माँ के पास पैसे भी थे या नहीं। अन्त में जब बालिका किसी तरह

न मानी तो झुँझलाकर उसने बच्ची को जो एक लात मारी तो उसकी नाक और मुँह में धूल ही धूल भर गई। मुझे देखकर मानो उसका ग़ुस्सा और तेज़ हो गया। गठरी सिर पर सँभालती हुई बच्चे को एक हाथ से घसीटती हुई लेकर चली। माँ उस तरह बच्चा लिये मेरे आगे आगे जा रही थी। नन्हीं बालिका, जिस ओर चूड़ी वाली गई थी उसी ओर मुँह किये, धूल में घसीटती, आँखों को हाथ से मलती, रोती चिल्लाती चली जा रही थी। आगे, जहाँ से रास्ता दो दिशाओं में बँट जाता था, पहुँच कर देहाती स्त्री ने बालिका को सड़क पर डाल दिया। अब आगे-आगे माँ चली जा रही थी और पीछे पीछे रोती चिल्लाती बच्ची। चूड़ियों का मोह धूल में मिल चुका था। माँ सिर के बाल खुजलाकर सोचने की कोशिश कर रही थी—घर में क्या है क्या नहीं।

जिस रास्ते से होकर मैं गुज़र रहा था वह रेलवे-लाइन की बग़ल से जाता था। संध्या का समय था, इसलिये शहर के बाहर बाहर टहलता हुआ उस तंग रास्ते से मैं लौट रहा था। आगे चलकर एक और गुम्टी मिली। रेल की लाइन पर ट्राली खड़ी थी। कपड़े के बड़े छाते के नीचे कोई देशी साहब बैठा था। ट्राली को धक्का देने वाले ट्राली पकड़े खड़े थे। साहब काग़ज़ पढ़ कर जैसे कोई फैसला सुना रहा था। फ़ैसला सुनकर गुम्टी के बूढ़े चौकीदार ने सिर से पगड़ी और शरीर से वर्दी उतार कर ज़मीन पर रखते हुए साहब को दोनों हाथ जोड़ कर सलाम किया। साहब ने कड़े स्वर में कहा—"तुम्हें जवाब है, गुम्टी का चार्ज नाथू को दे दो।" उसने हुक्म सुनाया ही था कि ट्राली चलने लगी। दो आदमी लोहे की लाइन पर सफ़ाई के साथ दौड़ते ट्राली को धक्का देते चले जा रहे थे। ट्राली जिस समय गुज़र रही थी मेरे पैर जब लाइन पर पड़े तो कानों में वैसी ही प्रतिध्वनि हुई जैसी गाड़ी गुज़र जाने के बाद होती है। आदमी मशीन के कल पुर्जों की भाँति भागे चले जा रहे थे। ट्राली और तेज़ भागती जाती थी। नौकरी से हटाया हुआ बूढ़ा चौकीदार चुपचाप खड़ा दूर जाती हुई ट्राली की ओर देख

रहा था। उसके कातर नेत्रों में जैसे ट्राली के लाल झण्डे का प्रतिबिम्ब फरफरा रहा था।

आगे छोटी सी बस्ती को पार करके जब मैं शहर की ओर चला आ रहा था उस समय एक बड़े मकान के सामने बाजे वाले धूम से बैंड बजा रहे थे। दरवाज़े पर बड़ा सा तम्बू गड़ा था, जिससे लगी हुई मोटर खड़ी थी। 'शोफ़र' गन्दी ख़ाकी बिरजिस पहने गाड़ी का सामने का शीशा झाड़न से पोंछ रहा था। तम्बू के नीचे आदमियों की एक भीड़ थी। कुछ इधर उधर भी लोग खड़े थे। मकान के बरामदे में स्त्रियों की भीड़ लगी थी। मकान के दरवाज़े से स्त्रियाँ एक घूँघट वाली दुल्हिन को पकड़े सँभालती हुई उसे बाहर निकाल रही थीं। दुल्हिन की चमकती हुई रेशमी चादर इधर-उधर से ढुलक कर ज़मीन पर घसिट रही थी। स्त्रियाँ आँचलों से अपने अपने आँसू पोंछ कर दुख भुलाने की चेष्टा में लगी थीं। छोटी छोटी लड़कियाँ और बच्चे फूट-फूट कर रो रहे थे। सभी दुख और शोक से परिप्लावित थे। चारों ओर फैली हुई उदासी को केवल कुछ सिसकियों का सहारा था। दुल्हिन जब मोटर पर चढ़ने लगी तो स्त्रियाँ सिसक सिसक कर रोने लगीं। मनहूस उदासी से वायुमण्डल भीगा हुआ था। मैं चलते चलते मन में सोचने लगा—'अरे राम, मैंने यह क्या देखा। यह तो मानों टूटे हुए दिलों का अच्छा ख़ासा जलूस है।' घूँघट से ढँके हुए दुल्हिन के मुँह को मैं नहीं देख सकता था और न देख सकता था उसके दिल में छिपे हुए दुख को। अँगरेज़ी बाजे आपस में मिलकर अच्छी ख़ासी धमाचौकड़ी और धमाधमी मचाए हुए थे। उनके शोर से कान फटे जाते थे। ऐसे शोर में बड़ी मुश्किल से मैं सोचने की कोशिश कर रहा था—'ये बाजे किस बात की घोषणा कर रहे हैं!'

और आगे जब बढ़ा तो सामने से स्कूली लड़कों का जलूस चला आ रहा था। बच्चों का बचकाना गाना दूर ही से सुनाई देने लगा। आगे आगे दो लड़के कोट पतलून पहने, हाथों में दो ऊपर उठे हुए

डण्डे लिये, चल रहे थे। ऊपर दोनों डण्डे एक दूसरे से लाल रंग के चौड़े कपड़े से बँधे थे। कागज़ की कतरन चिपका कर कपड़े पर कुछ लिख दिया गया था। थके हुए किन्तु चहक चहक कर बच्चे गाते आ रहे थे। ठहर-ठहरकर नारे भी लगाते। "जहालत का नाश हो!" "मूर्खता का नाश हो!!" बीच से कोई लड़का चिल्ला कर सवाल करता—"हम क्या करेंगे?" सब लड़के एक स्वर में ज़ोर से जवाब देते—"पढ़ेंगे!" इस तरह वे बार-बार नारे लगाते फिर गाने लगते। अब जलूस बिलकुल मेरी बग़ल से गुजर रहा था। मेरे पास काम करके लौटने वाले कुछ मज़दूर खड़े थे। वे लोग जलूस को देखकर आश्चर्य चकित हो रहे थे, और अधिक ध्यान से देख रहे थे उस लाल कपड़े के झण्डे को जिस पर कुछ लिखा हुआ था। जलूस निकल गया। मज़दूरों का समूह उन झण्डों को देखता रह गया। चलते चलते उनमें से एक बूढ़े ने मुझसे पूछा—"ये लोग क्या चाहते हैं?" मैंने उसे समझाया—"ये लोग तुम लोगों से पढ़ने को कह रहे हैं।" उन सभों ने एक बार घूम कर उन नन्हें नन्हें बच्चों को देखा और फिर मुझे एक नज़र देखकर जैसे उनके दिल टुकड़े-टुकड़े हो गए।

अब अँधेरा होने को आया। मैं जल्दी जल्दी क़दम बढ़ा कर चल रहा था। अँगरेज़ी बाजे और बच्चों के गानों तथा नारों की प्रतिध्वनि तो मेरे कानों से निकल गई थी। किन्तु टूटे हुए दिलों का साज़ टूटे बर्तनों की भाँति कानों में अब भी बज रहा था। शहर में दाख़िल होते ही इक्के ताँगों की भीड़ का सामना करना पड़ा। सड़क पर इतना शोर मचा हुआ था जैसे मेला लगा हो। सड़क के किनारे बच्चे शोर मचा रहे थे और घरों के रहने वाले अलग। किसी के यहाँ दरिद्रता के कारण दिया बत्ती नहीं हो पा रहा था तो किसी के यहाँ तेल और लकड़ी दोनों एक साथ घट गए थे। दिन भर काम करके लोग लौटे थे। दिन की दुनिया रात की दुनिया से मिलकर विचित्र कोलाहल मचाए हुए थी। उस कोलाहल को चीरता हुआ जब मैं चौराहे पर पहुँचा तो

सड़क के किनारे नाले की ओर मेरी नज़र गई । नाले पर काले रंग का एक बनिया नंगे बदन सामने चूहेदान रक्खे बैठा था । धोती इतनी ऊँची पहने था कि मोटी काली जाँघें तोंद से मिलकर एक हो गई थीं । बनिया नंगा बैठा मालूम पड़ता था । सिर के बाल महीन कतरे थे और मूँछे मुँह पर झाड़ू का काम दे रही थीं । चूहे को चूहेदान में देखकर उसकी आँखें मुस्करा रही थीं । चूहा बेचारा बदहवासी की हालत में इधर से उधर भागता फिरता था । कभी एक कोने में छिप कर बैठता तो कभी दूसरे कोने में । यदि एक ओर बैठकर ज़रा दम लेना चाहता तो बनिया मोटा सोटा ज़मीन पर खटका कर उसे भयभीत कर देता, चूहा फिर दौड़ने लगता । होते होते वहाँ दो चार आदमी एकत्र हो गए । मैं भी खड़ा यह तमाशा देखने लगा । बनिया घनी मूँछों में से मुस्कराकर चूहे से बोला—"बच्चू ख़ूब मज़े कर रहे थे, बड़ी मुश्किल से फँसे हो ।" बनिये की पत्नी बरामदे में से बोली—"हमारी मेहनत यही दहिजरे खाते हैं, जो आता है पीछे से मूस ले जाते हैं······।" हम लोगों को सम्बोधित कर के कह रही थी । दफ़्तर के एक बाबू, जो मेरी बग़ल में खड़े थे, मुझे देख देख कर पता नहीं क्यों मुस्करा रहे थे । बायीं ओर वाले खपरैल के छोटे मकान के सामने एक पठान हाथ में बेत का सोटा लिये दूसरे हाथ की उँगलियों से जल्दी जल्दी माले के छोटे छोटे दाने खसका रहा था । चूहे पर नज़र गड़ाए हुए बोला—"साला को मारो ।" दफ़्तर के बाबू मेरी ओर मुँह कर के दाँत निकाल कर और अधिक हँसने लगे । उनकी हँसी मेरी समझ में तो आई नहीं । पता नहीं क्या कहना चाहते थे जो नहीं कह सकते थे । मैं चूहे को ही देखता रहा ।

इस बीच वहाँ एक कुत्ता भी आ पहुँचा था, जो चूहेदान के सामने शेर की भाँति अगले पैर आगे की ओर मोड़ कर उकड़ूँ बैठा लम्बी ज़बान बाहर निकाल कर हाँप रहा था । उसकी चमकती हुई आँखें बन्दी चूहे को एकटक देख रही थीं । चारों ओर ऐसा सन्नाटा छाया

हुआ था जैसे कचहरी लगी हो। कुत्ता चूहेदान के सामने अफ़सर की तरह बैठा इजलास कर रहा था। अब चूहेदान का दरवाज़ा खुलने को था। बनिये ने डण्डा सँभाल लिया। कुत्ता सजग होकर तेज़ी से अपनी दुम हिला रहा था। दफ़्तर के बाबू अब भी मुझे देखकर मुस्करा रहे थे। सम्पूर्ण वातावरण मेरे लिये असह्य हो गया। जिस समय मैं वहाँ से चला मेरे दिमाग़ में समाज का पूरा ढाँचा घूम रहा था, जिसके बीच एक चूहेदान रक्खा था। उस चूहेदान में कभी चूहा दिखाई पड़ता तो कभी उसकी जगह खीस निकाले दफ़्तर के बाबू। फिर वह मोटा बनिया और तसबीह घुमाता हुआ पठान।

अब अँधेरा हो चुका था। आगे बढ़ा तो एक बँगले के फाटक के पास दीवार से लग कर कुछ बूढ़े गन्दगी पर सिर झुकाए बैठे मिले। बीच में आग की धूनी जल रही थी। धूनी के चारों ओर वे दुबले पतले काले काले आदमी फटे पुराने कपड़ों और चीथड़ों में लिपटे सिर नीचे किये बैठे थे। उन बूढ़ी हड्डियों पसलियों को उस प्रकार ज़मीन पर मेहराबें बनाए देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। आख़िर इस दशा में बैठे क्या कर रहे हैं? उनसे ज़रा हटकर एक पकौड़ी वाला मिट्टी के तेल की ढिबरी जलाए कड़ुवे तेल में पकौड़ियाँ छान रहा था। एक बार फिर ग़ौर से मैंने उस तरफ़ देखा। किसी बूढ़े ने ऐसा खींच कर दम लगाया कि चिलम का मुँह भक से जल उठा, जिसके प्रकाश में अँधेरे चेहरों पर रोशनी दौड़ गई। गाँजा, चण्डू, चरस, अफ़ीम के अन्धकार में संसार से मुँह मोड़कर बैठे उन टूटे हुए दिलों की खोई हुई बस्ती देख कर मेरा दिल टुकड़े टुकड़े हो गया।

वे आँखें–

वैसे तो उसे मैं एक ज़माने से जानता था। उसका ताँगा मेरे मकान के सामने से गुज़रा करता था। पहली बार जब मैंने उसे देखा तो वह मुझे कैसी अच्छी लगी, कैसी भोली सूरत थी उसकी। उम्र कम होते हुए भी एक विशेष उभार था उसमें। देखकर आदमी देखता ही रह जाता। आमतौर से सुलझे और सँवारे हुए बालों में से जो घुँघराला गुच्छा दाहने गाल पर लटक आता था उससे उसकी सुन्दरता को जैसे चार चाँद लग जाते थे। उसे देखकर मुझपर हमेशा गुलाब के फूल का सा असर पैदा होने लगता—वही सुगन्ध, वही हलकी लाली और सरल सुन्दरता मानो मस्तिष्क में समाने लगती। ऐसी कोमल और मुलायम उसकी कल्पना थी कि छुआ नहीं कि गुलाब की पँखुड़ियों की तरह भूमि पर बिखर जायगी। या यह कि लाजवन्ती की भाँति लजाकर 'छुई मुई' हो जायगी। सारांश यह कि सुन्दरता में वह साकार गुलाब और कोमलता में लाजवन्ती थी। परन्तु गुलाब की तरह मुस्कराते हुए मैंने उसे बहुत कम देखा। चेहरे पर एक प्रकार की हलकी परेशानी के फीके चिन्ह अक्सर मुझे चिन्तित कर देते, यद्यपि न मैं उसका कोई था और न वह मेरी कोई थी।

जब उसका ताँगा मेरे मकान के सामने से गुज़रता तो उसे मैं देखता ही रह जाता। किन्तु न तो वह मुझे देखती और न किसी दूसरी ओर, बल्कि किसी को न देखना, फिर भी एक आम नज़र से सबको देखना उसकी ख़ास अदा थी। अगर कभी संयोग से मेरी उसकी निगाहें एक हो भी जातीं तो उसका मुझ पर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ता जिससे मेरी निगाहें आपसे आप झुक जातीं। वास्तव में उसकी बड़ी बड़ी आँखों में ऐसा ज्योतिर्मय आकर्षण था कि उससे आँखें नहीं मिलाई जा सकती थीं। अगर मैं यह कहूँ कि उसकी आँखों से मुझे डर लगता था तो यह अतिशयोक्ति न होगी। जब भी मैंने उसे देखना चाहा उसकी निगाहों के सामने मेरी आँखें ठहर न सकीं। लेकिन उसके चेहरे का शान्ति पूर्ण परेशानी का भाव देखने में ऐसा सुन्दर लगता कि बिना देखे रहा भी नहीं जाता। इसीलिये मैं उसे तभी देख सकता था जबकि वह मेरी ओर न देखती होती। उसे देखकर मैं यही सोचता रह जाता कि ऐसी असीम सुन्दरता को किस बात की चिन्ता हो सकती है। यह जानने के लिये उसे बार बार देखकर भी मैं सन्तुष्ट न हुआ। वह थी भी क्या सुन्दर पहेली। उसको समझ लेना आसान नहीं था। उसे देखकर मैंने सदैव अनुभव किया जैसे मानो मेरे कानों में कोई गुनगुना रहा है—

फूलों से जिसको नफ़रत हो,
ख़ुशबू से जिसको वहशत हो।
जिस दिल की मचलना आदत हो,
फिर कोई उसे बहलाए क्यों!

साल भर बाद उसे आज फिर देखा। ताँगा मेरे मकान के सामने से गुज़रा। परदेस में जैसे कोई पुरानी सूरत देखकर, जान पहचान न होते हुए भी, आदमी को अकारण प्रसन्नता होती है वैसी ही भावना हम दोनों के बीच, इस ओर से उस ओर तक, तैर गई। वही सूरत, वही

सुन्दरता और वही सुन्दर परेशानी, जिनकी गवाही घुँघराले बालों का गुच्छा अब भी कर रहा था। ताँगा गुज़र जाने के बाद मैं इस ख़याल से परेशान हो गया कि आख़िर वह इतनी दुबली क्यों हो गई है। शायद बीमार थी। आख़िर आज तक कहाँ रही। हो सकता है पढ़ना छूट गया था। इस कारण जानवरी में फिर से नाम लिखाने आई है। बरामदे में टहलता रहा और इन प्रश्नों पर विचार करता रहा। आख़िर वह आज तक कहाँ और किस हालत में रही और ऐसी क्यों हो गई है।

सुबह शाम उसी तरह ताँगे पर वह मेरे सामने से गुज़रती। बरामदे या कमरे से मैं नित्य उसे देखता। कभी मुझे कभी मेरे मकान को देखती हुई वह चली जाती। यह भी हो सकता है कि ऐसा सिर्फ़ मेरा ख़याल था क्योंकि अब भी मैं उसकी आँखों से आखें मिलाकर देखने की ताब न रखता था। परन्तु अब मेरे लिये यह चिन्ता का विषय हो गया था कि आख़िर वह मुझे विशेष ढंग से क्यों देखती है। मुझको मौन दृष्टि से देखना उसका स्थायी ढङ्ग हो गया था। एक दिन मैंने अपने सामने वाले कमरे में छिपकर खिड़की के शीशे में से देखना चाहा। मेरे मकान के दरवाज़ों और खिड़कियों को देखती हुई, मानो कोई खोई चीज़ ढूँढ़ रही हो, गुज़र गई। मैंने निश्चय किया उसकी निगाहें, जिनसे मैं डरता था, अवश्य ही किसी को खोज रही थीं। मेरा मन जब इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि वह खोई चीज़ मैं भी हो सकता हूँ तो स्थिति मेरे लिये अधिक संकटपूर्ण बन गई। किन्तु इस निष्कर्ष पर पहुँच कर भी मुझे संतोष नहीं हुआ बल्कि इस रहस्य का पता लगाकर मैं स्वयं को ऐसा खोया कि उसे आज तक नहीं पा सका।

एक दिन की बात है। उसकी माँ आगे आगे और वह पीछे पीछे और उससे पीछे दोनों छोटे छोटे लड़के सब एक साथ मेरे मकान के सामने से सड़क पर निकले। बड़ा लड़का किताबों का झोला कन्धे से लटकाए बालपन की मस्ती में गाता जा रहा था—

पिया मिलन को जाना
पिया मिलन को जाना— आ आ आ आ

मैं अपने मकान के सामने "फुटपाथ" पर टहल रहा था। उसने मुस्कराते हुए मेरी ओर देखा। मेरे लिये उसकी वह पहली मुस्कराहट थी, आँखों की चोट खाकर मैं यही सोचता रह गया। उसने शरमाते हुए कितनी बार नन्हें गाने वाले की ओर तीव्र दृष्टि से देखा कि वह सड़क पर चुप रहे। लेकिन उन आँखों से हर कोई क्यों डरने लगा। बल्कि नटखट बालक ने अन्तरा भी उठाया—

जग की लाज,
मन की मौज,
दोनों को निभाना—आ—आ— आ आ

उसने भी दोनों को निभाने का प्रयत्न किया। सड़क पर चलते चलते औरों की दृष्टि बचा कर मुस्कराते हुए फिर एक बार मेरी ओर देखा। मेरी आँखें नीची हो गईं, किन्तु मैंने ऐसा अनुभव किया मानो वे बड़े बड़े नयन मुझे बुला रहे हों।

उसकी आँखों द्वारा प्रोत्साहन मिलने पर, उससे कुछ दूर, पीछे पीछे मैं भी हो लिया। इस प्रकार हम दोनों एक दूसरे से कुछ फ़ासले पर दूर तक सड़क पर चलते रहे। उसे शायद मालूम न था कि उसके पीछे मैं भी सड़क नाप रहा था। चौराहे पर पहुँच कर उसने घूम कर देखा। मुझे देख कर जैसे सिटपिटाई। पीछा किये जाने का अनुभव होते ही साड़ी के कोने किनारे ठीक करने लगी। उस समय उसकी गर्दन और कमर हवा में दोनों इस तरह हिल रहे थे जैसे पानी में कमल पतले डंठलों के सहारे लहरों के थपेड़े खाकर मचल रहा हो। मैं अनुभव कर रहा था जैसे किसी चल-चित्र का पीछा कर रहा हूँ।

संध्या का समय था। बरामदे में कुर्सी पर बैठा अपने ही विचारों से उलझ रहा था। भाँति भाँति की बातें दिमाग़ में उठतीं, किन्तु मन

की उदासी किसी तरह नहीं जाती। सुस्ती और एक प्रकार की मानसिक विवशता की दशा में कुर्सी पर पड़ा पड़ा टकटकी बाँधे सड़क की ओर देख रहा था। इतने में एक ताँगा सामने से गुज़रा। आँखों के सामने से वह निकली जा रही थी कि मेरी नज़र उस पर पड़ी। आँखों पर पट्टी अब भी बँधी देख कर मुझे अत्यधिक चिन्ता हुई। एक उदास आँख से देखती हुई चली गई। दिल तड़प कर रह गया। कुछ समझ में नहीं आया कि क्या करूँ। उसकी आँख के कष्ट को सोचकर योंही अपनी सारी ख़ुशी खो बैठा था। आज भी उसी आँख पर पट्टी देखकर व्याकुल हो गया। वैसे मुझमें इतना साहस कहाँ कि मैं उसे पत्र लिखता। किन्तु जब उसे बीमार हुए कई दिन हो गए तो मैंने हिम्मत करके उसका हाल जानने के लिये उसे लिखा। उस तरह शायद वह जवाब भी न देती।

लेकिन ख़त का जवाब शीघ्र ही आया। रैन के ख़त ही से मालूम हुआ कि भाई के पत्थर फेंकने की चोट से आँख ज़ख़मी हो गई थी। डाक्टर की दवा हो रही थी। जैसा कि उसने लिखा था, दवा से फ़ायदा भी था। लेकिन इस तरह तीन सप्ताह बीत गये और वह अब भी एक आँख पर पट्टी बाँधे उधर से गुज़रती थी। कभी कभी सन्देह होता कि शायद मेरे मन बहलाव के लिये वह इस प्रकार की संतोषप्रद बातें लिखती है। /जिन बड़ी बड़ी आँखों की सुन्दरता से मैं डरता था उन्हें एक बार फिर वैसी ही देखने की इच्छा होती। जब कभी यह सोचता कि वैसी आँखें और कभी नहीं देखी तो उसी समय डरते डरते कोई यह भी कहता कि अब शायद देखोगे भी नहीं। किन्तु उसका अनिष्ट और मैं सोचूँ, अपने दुर्भाग्य का अशकुन मैं निकालूँ/। इसलिये अपने स्वप्नों का फल समझने का काम औरों पर छोड़कर, उसके दुख और दर्द में उसकी सहायता के क्या क्या उपाय नहीं सोचा किया। किन्तु उनमें से कोई भी किस काम का हो सकता था।

मार्च का महीना भी आ गया। परीक्षा का समय निकट आया।

कभी कभी इसकी आशंका भी होती कि शायद रैन इस वर्ष परीक्षा में न बैठ सके, और उसके साथ और बहुत से बुरे बुरे डरते डरते विचार।

ऐसे ही विचारों और कल्पनाओं की दुनिया अपनी दुनिया हो गई थी। लेकिन मजबूरी के ऐसे जाल में फँसा था कि कोई सूरत दिखाई न देती। दिन और रात के चौबीस घण्टे कटने कठिन हो जाते। एक तरह से सिर्फ़ उसके पत्रों के सहारे जी रहा था। देखने की इच्छा उसे बार बार देखकर तीव्र होती जाती। किन्तु अब यदि उसे स्वप्न में भी देखता तो वह एक आँख पर सफ़ेद पट्टी बाँधे देखाई देती। एकाएक निद्रा भंग हो जाती, आँखें घबराई हुई इधर उधर देखने लगतीं। कोई तस्वीर भी नहीं थी जिसमें डरता डरता रैन की दोनों बड़ी बड़ी आँखों को देखता।

गर्मियों की छुट्टियों में जब से उसका ख़त मिला तब से छुट्टियों के शेष दिन आठ जुलाई की प्रतीक्षा में बिता दिये। और आज वही शुभ दिन अर्थात् आठ जुलाई है। कल से आज तक उसके घर के कई चक्कर भी लगाये, किन्तु देखाई न दी। मुश्किल से रात कटी। सुबह से ही आँखें उसे देखने के लिये व्याकुल हो रही थीं। सोचा था जी भर के आज रैन को देखूँगा। कभी यह भी खयाल होता कि अपनी कमज़ोरी के कारण रैन की आँखों से डर कर उसे जी भर के देख न सकूँ। समय बिताने के लिए बार बार उसका पत्र निकाल कर पढ़ता, जिसमें लिखा था—"अब मैं बिलकुल अच्छी हो गई और पढ़ाई जारी रखने के लिये अवश्य आऊँगी।" उस दोहरी ख़ुशी के कारण मानो मेरा मन आनन्द सागर में डूबने उतराने लगा। थोड़ी थोड़ी देर के बाद मकान के बाहर निकल कर देख आता, ताँगा तो नहीं आ रहा है। जब वह देखाई न देती तो यह सोचकर परेशान हो जाता कि ऐसा न हो वह न आये। अन्दर बड़े कमरे में टहल रहा था कि इतने में सड़क पर दूर से आते हुए ताँगे की आवाज़ आने लगी। झपट कर बाहर निकला। रैन का ताँगा निकला जा रहा था। देखकर

मुस्कराई। रैन को आज एक युग के बाद मुस्कराते देखकर ख़ुशी के मारे फूला न समाया। इधर उधर देखकर, गले के पास से ब्लाउज में से लिफ़ाफ़ा निकालने लगी। मतलब समझ गया। झपट कर बरामदे में से साइकिल लेकर सड़क पर तांगे से कुछ दूर दूर चलने लगा। आबादी से दूर जाकर, जब पार्क वाली सड़क पर तांगा गुज़र रहा था, साइकिल बढ़ाकर उसके निकट हो लिया। तेज़ साइकिल चलाने की मेहनत, रैन से मिलने की ख़ुशी और उसे निकट से देखने की परेशानी के मिश्रित भावों से प्रभावित हो कर मैं ऐसा बदहवास हुआ कि उसके निकट पहुँच कर समझ में न आया कि क्या करूँ। आँखों से आँखें मिलते ही पलकें लड़खड़ाई' अवश्य किन्तु उसकी आँखें देखकर आज मैं डरा नहीं। सोचा रैन अब अपनी हो गई है, उससे डरूँ क्यों। उसके हाथ से लिफ़ाफ़ा लेकर प्रसन्नचित्त लौट रहा था, मानो लिफ़ाफ़े में रैन ही तो थी।

सिनेमा शुरू हो चुका था। चित्र के नायक नायिका परस्पर परिचित होकर एक दूसरे को पा लेने के लिये जग-जीवन से होड़ ले रहे थे। पत्र की आशा के अनुसार, ठीक आठ बजे, मैं सिनेमा हाल के दाहनी ओर वाले दरवाज़े से बाहर निकला और गेलेरी में एक ओर खम्भे के पास अँधेरे में खड़ा हो गया। जब वह नहीं आई तो समय बिताने के लिये इधर उधर टहलने लगा। इस तरह सूनी गेलरी में कुछ देर टहलता रहा। रह रहकर यह भी सोचता कि उस हालत में यदि किसी ने देख लिया तो क्या होगा। सिनेमा होते समय इस तरह बाहर टहलने का आख़िर मतलब ही क्या हो सकता है। जब अपने विचारों की उधेड़बुन में इस तरह लगा था सिनेमा हाल का दरवाज़ा खुला। रैन ने बाहर निकलते ही मुझे देख लिया। इधर उधर देखकर सीधी मेरे पास आई। में अपनी जगह से हट कर खम्भे के पास चला गया था। पास आकर उसने हाथ जोड़कर नमस्ते करना चाहा। जवाब में हँसते हुए मैंने उसका हाथ पकड़ लिया। दूसरे हाथ से अपना

आँचल सँभालने लगी। हाथ में से कलाई फिसल जाने पर उसकी उँगली ज़ोर से पकड़ते हुए मैंने पूछा—"सिनेमा बीच में छोड़कर बाहर कैसे चली आईं ?" हँसकर उसने उँगली भी छुड़ा ली—"अम्माँ से कहा सिर घूम रहा है।" "बहाने बनाने में तुम तेज़ मालूम होती हो।" रैन ने शर्माकर हथेली में मुँह छिपाते हुए जवाब दिया—"आप ही ने सिखाया।" अब क्या था, मैंने बढ़कर उसे अपनी बाँहों में घेर लिया। हँस हँसकर बातें करती हुई वह अपने को छुड़ाने की कोशिश करती रही। किन्तु जब मेरे मुँह को अपने होठों की ओर झुकते हुए देखा तो एक झटके से अपने को छुड़ाकर उसने भीतर जाना चाहा। कोई चीज़ सीमेन्ट की सख्त फ़र्श पर खट से गिरी। रैन रूमाल से मुँह पोंछती हुई बिजली की तरह अन्दर चली गई। मैं झेंपा हुआ, इधर उधर देखकर, रैन की फ़र्श पर गिरी हुई चीज़ को ढूँढ़ने लगा। कुछ देर बाद गोल गोल सी चीज़ मिली। उसे रोशनी में लेजाकर देखा, शीशे की खोखली आँख मुझे देख रही थी।

दिल ज़ोर से धड़क रहा था। सिनेमा देखने का साहस न रहा वहाँ से चल पड़ा। बरसात की रात, बादल घिरे हुए थे। अँधेरी रात में सूनी सड़क पर तेज़ क़दम चला आ रहा था। दूर दूर बिजली के खम्भे कहीं कहीं पर सड़क उजियाली कर देते थे। मेंढक झींगुर शोर मचाए हुए थे। मैं तेज़ी से घर लौट रहा था। ऐसा अनुभव कर रहा था मानो वह आँख मेरा पीछा कर रही थी।

चलता चलता घर पहुँचा। बड़े कमरे में पहुँच कर साँस ली। नौकर से एक गिलास पानी लाने को कहा। टाई निकाल कर गोल मेज़ पर फेंकी। कपड़े निकालने को सोच रहा था। जेब में हाथ डाला। हाथ के साथ गुलाब का डंठल पत्तियों साथ बाहर निकल आया, जिसे रैन को देने के लिये ले गया था। गुलाब को देखते ही उसे तोड़ मरोड़ कर फेंक दिया। टहनी का काँटा उँगली में चुभ गया।

रूमाल से उँगुली का ख़ून पोछने के लिए दूसरा हाथ जेब में डाला। रूमाल से उँगली का ख़ून पोछ रहा था। रूमाल में उलझी हुई शीशे की आँख दीख पड़ी। आँख मुझे कातर नेत्रों से देख रही थी। उसे ज़ोर से फेंका। दरवाज़े के शीशे से टकराकर चूर चूर हो गई। मैं सोफे पर गिरकर पड़ रहा।

Inhalation Breathing in

शाहजहाँ का स्वप्न–

क़रीब आधी रात का समय। दुनिया चाँदनी की सफ़ेद चादर से मुँह ढँक कर सोई हुई है। चाँद की चमक से तारे दिखाई नहीं देते। सामने संगमरमर की सफ़ेद तस्वीर आस्मान और ज़मीन के बीच चमक रही है। पत्थर की चमक और सफ़ेदी पर आँखें नहीं ठहरतीं। रात की चाँदनी में दूध की इमारत मानो स्वयं अपनी सुन्दरता पर आश्चर्य कर रही है। इमारत के गुम्बद और मीनारों पर चमकीले पत्थर सितारों के साथ आँखमिचौनी खेल रहे हैं। इमारत के भीतर भी रोशनी है, जिसके कारण हर चीज़ साफ़ दिखाई पड़ रही है। अन्दर की रोशनी बाहर की चाँदनी से ऐसी मिलती जुलती है कि उसे देख कर मालूम पड़ता है कि चाँद की चाँदनी किसी रास्ते से लाकर पूरी इमारत में फैला दी गई है। देखने से जान पड़ता है कि किसी विशेष उत्सव के उपलक्ष में ताज का अन्दर बाहर दोनों मुस्करा रहे हैं। ऐसा सोचने से अगर कोई चीज़ रोकती है तो हँसी ख़ुशी या किसी प्रकार की चहल पहल का पूर्ण अभाव है। शायद समाधि का उत्सव ऐसा ही होता है। छोटे बड़े फूल पौधे अपनी अपनी क्यारियों में चुपचाप मानों किसी के आने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। गुलाब की प्यासी कलियाँ आकाश की

और होंठ फैलाए ओस की राह देख रही हैं। सामने ठण्डे पानी की हौज़ में ताजमहल काँप रहा है। दायें बायें पानी के लम्बे आइनों में दोनों ओर लगे हुए सरो के लम्बे वृक्ष अपने शोकमय चेहरे देख रहे हैं। सरों के वृक्षों से छिपे छिपे अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित सिपाही ताजमहल की रखवाली कर रहे हैं।

किसी ओर से आते हुए घोड़ों के टापों की आवाज़ें आने लगीं। सिपाही सजग हो गए। दो दो की पंक्तियों में घोड़सवार सामने से आने लगे। इमारत से कुछ दूर पर घोड़े ठहर गए। उनके बीच से दो घोड़े आगे निकले और जहाँ से सरो और फूलों की क्यारियाँ शुरू होती हैं वहाँ पहुँच कर रुक गए। घोड़ों पर से उतर कर दो आदमी धीरे धीरे, गम्भीरता के साथ क़दम उठाते हुए, आगे बढ़े। उनके सुनहरे वस्त्र चाँद की रोशनी में कहीं कहीं से चमक उठते। ताज के सामने पहुँच कर कुछ दूर पर दोनों ठहर गए और फिर ख़ामोशी से ताज को देखते रहे।

पास के सरो के वृक्ष के पीछे एक पगली स्त्री चीथड़ों में लिपटी खड़ी थी। ताज को कम किन्तु ताज के एक मीनार को अधिक ध्यान से देख रही थी, मानो उसके पगले जीवन के लिये पत्थर की मीनार सबसे प्रिय वस्तु थी। मीनार को देखकर पगली की आँखें रोने लगीं। चाँद की चाँदनी में अमीरी और ग़रीबी की दो इन्सानी लकीरें ताज देख रही थीं। दोनों ही दुखी थीं। सुनहरे वस्त्रों से सुसज्जित और चीथड़ों में लिपटी हुई पगली दोनों ही के आन्तरिक दुख पर पत्थर का ताज आकाश और पृथ्वी के बीच चाँद की चाँदनी में खड़ा मुस्करा रहा था ....

....

फूटकर रो पड़ने का भाव जब अत्यधिक प्रबल हुआ तो बादशाह सलामत की नींद एकाएक खुल गई। आँसुओं से पलकें बोझल थीं। बायाँ हाथ उठाकर कुर्ते की बहोरी से आँसू पोंछ कर शहन्शाह ने

इधर उधर देखा। कमरे के अन्धकार में ख़ामोशी और सन्नाटा था। बूढ़े बादशाह का बूढ़ा मस्तिष्क सोचने की कोशिश कर रहा था। सूने कमरे में जैसे कोई सहमा हुआ धीरे धीरे मुँह से साँस ले लेकर बातें कर रहा हो—"ख़ोदा पाक, यह क्या माजरा है? ऐसा तो कभी नहीं हुआ। ये किसके करिश्मे हैं? बुढ़ापा है या काली कोठरी का डर? लेकिन यहाँ आए हुए तो एक ज़माना हुआ, ऐसा कभी नहीं हुआ। क्या इतना कमज़ोर हो गया हूँ? आख़िर मुझको हो क्या गया? कोई बता दे, पगली कौन थी?......।" यह कहते समय फ़र्श पर लेटे हुए बूढ़े बादशाह की पलकों की झुर्रियों से दबी हुई पुतलियाँ दायें बायें देखने की कोशिश करती हैं। अँधेरे कमरे में बुढ़ापे की फीकी रोशनी में आँखें क्या देख पातीं। दुर्बल मस्तिष्क अधिक देर तक सोच भी न सकता था। जहान को पनाह देने वाले बादशाह सलामत ने करवट बदली और छत की ओर मुँह करके अपने दोनों हाथों की हथेलियाँ मुँह के सामने जोड़कर बन्दी ख़ोदा से दुआएँ माँगने लगा। कुछ देर तक बूढ़े होंठ हिलते रहे। लेकिन जब ऊपर की ओर उठे हुए हाथों का बुढ़ापे से थकी हुई रगों ने साथ न दिया तो हाथ सीने पर गिर गए। होंठ, जो कुछ देर तक ख़ोदा पाक की तारीफ़ में हिलते रहे, ख़ामोश हो गए.............

....

................काम हो रहा था। काम का शोर मचा हुआ था। हर तरफ काम, हज़ारों लाखों आदमी और पशु काम कर रहे थे। काम करने वाले सरगर्मी से काम कर रहे थे। भाँति भाँति के काम। कहीं पर पत्थर के बड़े बड़े टुकड़े उठाए जा रहे थे, कहीं पत्थर काटने वाले पत्थर काट रहे थे। पत्थर उठाने वाले मज़दूर विचित्र बोली बोल कर पत्थरों को खसकाते। पत्थर काटने वालों की छेनियों की आवाज़ दूर दूर जाती लेकिन पत्थर से निकलने वाली चिंगारियाँ जलते हुए सूर्य की तीव्र धूप में, छेनियों की आवाज़ों की प्रतिध्वनि दूर दीवारों से

टकराकर लौटने से पहले, बुझ जातीं। पत्थरों के तराशने के बारीक काम मिस्त्री तम्बुओं के नीचे कर रहे थे। पत्थर कितने ही हों लेकिन संगमरमर की ओर ही बात होती है!

ऊँचे ऊँचे पत्थरों के ढू के ढू लगे हुए थे। पत्थरों के ढेर के साथ ज़मीन खोदकर मज़दूरों ने मिट्टी के ढेर लगा दिये थे। मज़दूर फावड़ों से ज़मीन खोदते और दूसरे टोकरियों में मिट्टी भर कर दूर ले जाते। मेहनत सभी कर रहे थे पर, पसीना किसी के शरीर पर न था। तेज़ सूर्य की प्यासी किरणें पसीना निकलने भी न पाता कि चाट जातीं।

किसी ओर से रहँट की थका देने वाली "रें रें रें" की आवाज़ आ रही थी। यमुना का पानी नहरों में से रहँट ऊपर उठा रहे थे। बैल जुगाली करते और मुँह से सफ़ेद झाग निकालते हुए रहँट को धीरे धीरे घुमा रहे थे। जगह जगह पर भैंसे पत्थर की चक्की को गोल नाली के चारों ओर घूम घूम कर चला रहे थे। पत्थर की गोल चक्की के नीचे सुर्ख़ी पीसी जा रही थी। बैसाखी भैंसों की हड्डियाँ और पसुलियाँ धूप में चपक रही थीं। नाली में पानी के साथ मिलकर सुर्ख़ी चूना लबाब बनकर घूमने वाली चक्की के आगे आगे भागते जाते। प्यासे भैंसे हाँपते हुए, सुर्ख़ी चूने का लबाब देखकर, लम्बी लम्बी ज़बानें बाहर निकाल देते।

आदमी और जानवर सभी काम में व्यस्त थे। आदमियों और जानवरों ने मिलकर कारोबार की एक अजीब दुनिया बना रक्खी थी। दूर ऊँची ऊँची दीवारों पर बँधे हुए पायटों पर मिस्त्री बैठे पत्थरों पर पत्थर रखकर जोड़ने के काम में लगे थे। नीचे से ऊपर तक काले काले मज़दूरों का एक ताँता लगा हुआ था। कोई मसाला लिये जा रहा था तो कुछ पत्थर उठाने में व्यस्त थे। भारी-भारी क़ीमती संगमरमर और दूसरे क़िस्म के पत्थर। ऊपर दीवारों पर मिस्त्री लोग देखने पर टिड्डियों जैसे लगते। नीचे से ऊपर तक बानर सेना की भाँति छोटे छोटे आदमी सिर पर बर्तनों में मसाले रक्खे लिये जा रहे थे। मशकों

के बोझ से भिशती झुके झुके चलते दिखाई देते। कामदार लोग डाँट डपट से काम ले रहे थे। सुस्त काम करने वाले मज़दूरों की नंगी पीठों पर सिपाही कोड़े लगा देते। काम करने और कराने वालों का कोलाहल मचा हुआ था। मिट्टी, मसाला, आदमियों और पत्थरों का शोर ऊपर उठकर दोपहर के जलते हुए वायुमण्डल में बुझ जाता।

मैकू सीना तोड़कर काम करने वालों में से था। मिट्टी से भरी टोकरी लिये जा रहा था। कुछ दूर जाकर मिट्टी की टोकरी दूसरे आदमी के सिर पर रखकर ख़ाली टोकरी लिये लौटने लगा। काले आदमियों का पसीना भी काला लगता है। मैकू की नंगी पीठ पर पसीने की बूँदे चमक चमक कर सूख जातीं। जाँघों तक नंगे काले पैर इस तरफ़ से उस तरफ़ और उस तरफ़ से इस तरफ़ दिन भर मुश्किल से पचास गज़ ज़मीन नापते रहते। लम्बी पतली टाँगें जलती हुई बालू और पत्थर की ज़मीन पर इस प्रकार पड़तीं मानो फिर न उठेंगी। कामदारों की आवाज़ें उसके कानों तक पहुँचकर सुनाई नहीं पड़तीं। गर्मी में कान मानो सुन्न हो गए हों। सिपाही गाली देते जाते और मैकू अपनी स्थायी चाल चलता जाता।

टोकरी किसी मज़दूर के सहारे से उठाई, मिट्टी सिर पर रखकर चला। सिपाही ने चिल्लाकर गाली दी। मैकू अपनी स्थायी चाल चलता रहा। उस ओर से टोकरी बदलने वाला मज़दूर अपनी जगह पर पहुँच कर खड़ा था। सिपाही गालियाँ देता हुआ लपका और मैकू के पास पहुँचते पहुँचते उसने चमड़े के कोड़े मैकू की नंगी पीठ पर बरसा दिये। कोड़ों की चोट को सह कर मैकू उसी प्रकार ख़ाली टोकरी लेकर लौट रहा था। पगड़ी, जो कोड़ों से डरकर सिर पर से खसक कर गिर गई थी, उसकी मिट्टी एक हाथ से झाड़ते हुए मैकू ने चलते चलते सर पर फिर बाँध ली। अबकी वार जो उसने मिट्टी से भरी हुई टोकरी अपने सर से उतार कर दूसरे मज़दूर के सर पर रखना चाहा तो हाथ काँप जाने से मिट्टी नंगी पीठ पर

गिर पड़ी। कोड़ों के बनाए हुए घावों पर मिट्टी के फैल जाने से मानो घाव भर गए...

...."अरे रे रे" शोर मचा, धम्म से मीनार पर से एक बहुत बड़ा पत्थर, जो खींच कर ऊपर ले जाया जा रहा था, ज़मीन पर गिर पड़ा, जिसके नीचे काला आदमी पिस कर छिपकली हो गया। सिर्फ़ टाँगे पत्थर के बाहर दिखाई दे रही थीं...

......पगली स्त्री ताज के इर्दगिर्द घूम-घूम कर गाती, रोती और फिर चीख़ कर एक ओर भागती।

चीख़ से शाहजहाँ का स्वप्न भंग हो गया। दोनों हाथों से उसने आँखें मलकर पहले हथेली को देखा, फिर उठकर खड़ा हुआ और चल कर सामने की छत के बरामदे के किनारे तक गया। बारजे पर हाथ रक्खे दूर पौ फटने के धुँधलके में ताज की रूपरेखा धीरे धीरे स्पष्ट होते देख रहा था। सेवक एक हाथ में आफ़ताबा और दूसरे हाथ में उगालदान लिये हाज़िर हुआ। जब देर तक बादशाह ने नौकर की ओर ध्यान नहीं दिया तो उसने आहिस्ता से कहा—"हुज़ूर !"

उसकी ओर देखे बिना शाहजहाँ ने पूछा—"ताज की छत इस साल भी टपकी ?"

नौकर ने उत्तर दिया—"जहाँपनाह, आँसू की दो बूँदें—"

"बको मत !" शाही क़ैदी ने नाराज़ होकर कहा और टहल कर उस कमरे में चला गया जिसमें तख़्त से उतर कर जीवन के शेष दिन बिता रहा था। नित्य की भाँति उस दिन ताजमहल की संगमरमर की नक़ल बादशाह के सामने नहीं लाई गई।

Because Shahjehan was imprisoned by his Son (or

…is book is so good as . . .

अपनी और पराई बात

(पहले संस्करण की भूमिका)

अपनी और पराई बात—

मैं हिन्दी नहीं जानता। उर्दू और फ़ारसी लेकर एन्ट्रेन्स पास किया और फिर दोनों से नाता टूटा। हिन्दी जो आई वह बीबी को पत्र लिखकर। चूँकि विवाह के कुछ ही दिनों बाद तक बीबी को पत्र अधिक लिखे जाते हैं इसलिये पत्र लिखना ज्यों ज्यों कम होता गया त्यों त्यों हिन्दी से मैं दूर होता गया। एम० ए० पास करने के बहुत दिन बाद की बात है। उस समय प्रगतिशील साहित्य के धन्धे में व्यस्त था। प्रगतिशील साहित्यिकों की एक ऐसी ही बैठक में समालोचक की हैसियत से कुछ कहना चाहा। मेरे एक मित्र, जो अपने को प्रगतिशीलता के अच्छे ख़ासे स्तम्भ समझते थे, बीच में बोल उठे—"तुम्हें यह बातें क्या मालूम ? समालोचक होने के लिये साहित्य निर्माता होना आवश्यक है।" हालाँकि मेरे मित्र भी, जहाँ तक इस प्रकार की लेखनी का सवाल था, बिलकुल कोरे थे, परन्तु छोटे मुँह बड़ी बात, रोकता कौन। अतएव, मुझे बात बुरी लगी और घर लौटकर उसी दिन काग़ज़ क़लम लेकर कहानी लिखने बैठ गया। लिखते समय पसीना छूट गया, आधी रात हो गई, कहानी पूरी न हो सकी। लगभग तीन चौथाई लिखकर चार बजे के क़रीब सो गया।

सुबह होते ही अधूरी कहानी मित्रों को पढ़कर सुनाया। पढ़ते समय भाव वही था जो बच्चा जनने के बाद, जानने के लिये कि बेटा है या बेटी, माँ का भाव होता है। परन्तु न बेटा निकला न बेटी, दोस्तों ने सुनकर कहा—"बहुत ख़ूब, लिखते जाओ।" जिन्हें मुशायरों का अनुभव है वे जानते हैं कि "बहुत ख़ूब" का आमतौर से कुछ मतलब नहीं होता। परन्तु अपनी नासमझी को क्या कहूँ जिसने यह समझा था कि कहानी यदि बुरी होगी तो गालियाँ पड़ेंगी।

चूँकि ऐसा कुछ नहीं हुआ इसलिये उस कहानी को तो उसी दिन समाप्त किया और आगे तीन दिनों में दो और लिख डालीं। उसी समय मेरे मित्र श्री भगवतीचरण वर्मा इलाहाबाद आये। 'विचार' निकालने ही जा रहे थे। मेरे एक उभयनिष्ट मित्र ने उनसे बताया कि मैंने कुछ कहानियाँ लिखी हैं। पत्रिका के पृष्ठों को भरने के लिये उन्हें काफ़ी सामग्री की यों भी ज़रूरत थी। जब उन्होंने मुझसे कहानियाँ माँगी तो डरते डरते मैंने उन्हें दोनों कहानियाँ दे दी, और साथ साथ प्रार्थना किया कि चूँकि हिन्दी नहीं जानता इसलिये छापने से पहले कृपा करके स्वयं त्रुटियाँ ठीक कर लीजियेगा। अच्छे सम्पादक की तरह उन्होंने 'हाँ' कहा और शायद फ़ौरन ही भूल भी गये। यों भी बात सही है। अगर एडीटर छपने वाले सारे खुराफ़ात को पढ़ने और सुधारने के काम में लग जाये तो उसकी ज़िन्दगी तो इसी में खप जाय। अतएव, हुआ यह कि वह दोनों कहानियाँ उसी रूप में छपीं। उनका छप जाना ही मेरे लिये क्या कम था। 'विचार' के छपे हुए पन्नों पर उन्हें देखकर मैं फूला नहीं समाया।

इस तरह दो एक और कहानियाँ 'विचार' में छपीं। फिर धुन सवार हुई कि किसी उच्च कोटि की पत्रिका में कहानी छपनी चाहिये। चुनाँचे उसके बाद जो कहानी लिखी ('ग़रीबी की तस्वीर') उसे 'विशाल भारत' में छपाने के मनसूबे बाँधे। पंडित सुमित्रानन्दन पंत उन दिनों मेरे बड़े मित्रों में थे। पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी से

उनकी बनती थी। उन्होंने मेरी उस कहानी को अपने पत्र के साथ उनके पास भेज दिया। 'ग़रीबी की तस्वीर' को 'विशाल भारत' में छपा देखकर मानो मेरी आँखों में हर्ष के आँसु भर आये। जैसे इतना काफ़ी न था। उसी समय मेरी एक और कहानी, 'अन्दर और बाहर', 'विचार' में छपी, जिसे छाप कर भगवती बाबू ने बधाई का पत्र लिखा। उन्होंने मेरी कला और साहस को बहुत सराहा। साथ साथ मुझ से सैद्धान्तिक विरोध भी प्रगट किया, जिसका मेरे ऊपर ज़्यादा असर नहीं पड़ा क्योंकि पत्र के आख़ीर में उन्होंने लिखा था—"कहानियाँ 'विचार' में ही छपाते रहो। मैं छापने और उनका पत्र लेने का साहस रखता हूँ।" उस पत्र को मैंने इतनी अमूल्य वस्तु समझा कि उसे बकस की तह में रख दिया जहाँ वह शायद अब भी पड़ा हुआ है।

तात्पर्य यह कि इस तरह मैं कहानी लेखक बना, हालांकि उस समय न तो मेरी ऐसी अवस्था थी और न ऐसी परिस्थिति कि इस तरह के भावुक प्रयोग करता। बहरहाल, अगले आठ महीनों में क़रीब बीस कहानियाँ और लिख डालीं, जिनमें से एक दो छोड़ कर बाक़ी सब की सब 'विचार' में ही छपीं। उसके बाद जो क़लम रुकी तो आज तक रुकी है। यानी १६४० से १९४३ तक एक भी कहानी नहीं लिखी, सिवाय कुछ कहानियों को हिन्दी से उर्दू लिपि में करने के। कुछ को छोड़ कर, बाक़ी सब की सब उर्दू पत्रिकाओं में छपीं, और यह कहना ज़रूरी न होगा कि एडीटरों ने उनकी प्रशंसा भी की, हालांकि प्रशंसा करते समय उन्होंने हमेशा इस बात पर ज़ोर दिया कि मैं हिन्दी का लेखक हूँ। उनके यह कहने का एक सभ्य तरीक़ा था कि हिन्दी का लेखक होने की वजह से मेरी भाषा की ओर ध्यान न दिया जाय। इसको मैंने ख़ास तौर से नोट किया क्योंकि कहानियों को हिन्दी से उर्दू में करते समय, जहाँ तक ज़बान का सवाल था, उन्हें यों भी मांज और चमका कर रख दिया था।

इस तरह अपनी लगभग साल भर की साहित्यिक कोशिशों के फल को, दो साल से अधिक समय गुज़र जाने के बाद, एक संग्रह के रूप में छपाने का फ़ैसला करके जब इन कहानियों को फिर से साफ करता और सँवारता हूँ तो आज कुछ बातें खटकती हैं। और यह भी सही है कि जो बात सब से अधिक खटकती है वह भाषा ही की बात है। चूँकि भाषा का सवाल किसी क़दर टेढ़ा है इसलिये इस पर विस्तार पूर्वक ग़ौर करना आवश्यक होगा, क्योंकि भाषा के साथ हिन्दी उर्दू और हिन्दुस्तानी के सवाल उठ खड़े होते हैं।

अनुभव की बात है, आम तौर से बात वही मानी जाती है और असर रखती है जो किसी क़दर ईमानदारी से कही जाय। इसलिये यदि इस मामले में शुरू से ही ईमानदारी बरती जाय तो अच्छा होगा। जिस समय मैंने हिन्दी में कहानियाँ लिखना आरम्भ किया उस समय भी मैं हिन्दी से उर्दू अधिक जानता था, और आज तो हिन्दी से उर्दू कहीं ज़्यादा जानता हूँ। इसका कारण स्पष्ट है। लिखने को तो हिन्दी और उर्दू दोनों ही में लिखा लेकिन हिन्दी के मुक़ाबले में उर्दू का अध्ययन अधिक किया और उसकी ओर अधिक ध्यान भी दिया। इसकी वजह यह थी कि वैसे तो मैंने हिन्दी और उर्दू साहित्य से दिलचस्पी एक साथ लेनी शुरू की परन्तु ज्यों ज्यों आगे बढ़ा हिन्दी का प्रभाव मेरे ऊपर से उठता गया और मैं उर्दू से अधिक प्रभावित हुआ, यद्यपि उस ज़माने में मेरा सम्बन्ध और मिलना जुलना हिन्दी साहित्यिकों से ही अधिक था। और वे ऐसे वैसे नहीं बल्कि चोटी के साहित्यिक। परन्तु इससे यह नतीजा निकालना कि उर्दू हिन्दी से श्रेष्ट है नासमझी होगी क्योंकि किसी भी हालत में व्यक्तिगत रुचि या अरुचि साहित्य का मापक यंत्र नहीं हो सकती। और फिर जहाँ तक मेरा सवाल था उसका अर्थ तो स्पष्ट था। दसवें दर्जे तक उर्दू फ़ारसी पढ़ी थी इसलिये ज़ाहिर है जब भाषा और साहित्य में रुचि पैदा हुई तो, आसानी और

सहूलियत के लेहाज़ से, तबियत का खिंचाव भी उसी तरफ़ ज़्यादा हुआ जिसमें पहले से अधिक पहुँच रखता था।

यहाँ पर यह सवाल पैदा हो सकता है कि यदि मेरी रुचि उर्दू की ओर अधिक थी और सामर्थ्य भी तो हिन्दी की ओर ध्यान ही क्यों दिया। और यहीं से झगड़े की बातें भी शुरू होती हैं। जब मैंने लिखने के लिये क़लम उठाई तब यह निश्चय करने का अवसर था कि उर्दू में लिखूँ या हिन्दी में। लेकिन चूँकि उर्दू के मुक़ाबले में मुझे हिन्दी में लिखना आसान मालूम हुआ इसलिये हिन्दी ही में लिखना शुरू किया। हिन्दी की यह श्रेष्ठता (इसे मैं, जहाँ तक हिन्दी के लोकप्रिय होने का सवाल है, उसकी श्रेष्ठता ही कहूँगा) मुझे प्रिय लगी। उर्दू में लिखने की कठिनाई उसकी कमी मालूम हुई, और मेरा यह विश्वास है कि अगर दोनों भाषाओं में यह फ़र्क हमेशा क़ायम रहा तो जहाँ तक हिन्दुओं का सवाल है वह हिन्दी ही के होकर रहेंगे न कि उर्दू के।[1]

उर्दू प्रेमी आपत्ति कर सकते हैं आखिर किस तरह हिन्दी में लिखना उर्दू से अधिक सरल हो सकता है। इसका जवाब आगे चलकर

---

[1]यह ध्यान देने का विषय है क्योंकि मेरी राय में उर्दू की यह कमज़ोरी आगे चलकर उसके लिये घातक साबित हो सकती है। इसका प्रत्यक्ष सबूत यह है कि वे हिन्दू लड़के जो नीचे दर्जों में हिन्दी के बजाय उर्दू पढ़ते हैं वे हिन्दी पढ़ने वाले बच्चों के मुक़ाबले में इमतहानों में अधिक फ़ेल होते हैं। इधर कुछ सालों से ऐसा देखा जा रहा है कि उर्दू पढ़ने वाले कायस्थ बच्चे (कश्मीरियों के बारे में मैं ज़्यादा नहीं जानता) चालीस पचास फ़ीसदी तक उर्दू ही के परचे में फ़ेल होते हैं, हालाँकि कायस्थों के यहाँ उर्दू और फ़ारसी की पुरानी परम्परा रही है। नतीजा यह है कि उर्दू पढ़ने वाले हिन्दू विद्यार्थियों को उर्दू के वास्ते अलग से मौलवी रखना पड़ता है। इस खर्च और कठिनाई की वजह से हिन्दी अब अधिकतर पढ़ाई जाने लगी है। हमारे मुसलमान दोस्तों के लिये यह सोचने का विषय है। मुसलमान दोस्तों मैंने

दूँगा। लेकिन इससे यदि यह नतीजा निकाला जाय कि उर्दू में फ़ारसी और अरबी के शब्दों का अधिक प्रयोग होता है और हिन्दी में संस्कृत के शब्दों का कम तो भूल होगी। बल्कि मेरा तो यह ख़्याल है कि इस मामले में दोनों गुनहगार हैं और इतने कि यह कहना मुश्किल है कि दोनों में कौन ज़्यादा है। पहले इस पर मतभेद हो सकता था लेकिन हाल में डा० अमरनाथ झा के कथन के पश्चात् इसमें मतभेद की गुंजाइश नहीं रह जाती। उन्होंने यह बात ज़ोर दे कर कही है कि कुछ दिनों से दोनों तरफ़ से इस बात की विशेष कोशिश होती रही है कि हिन्दी में संस्कृत के और उर्दू में फ़ारसी और अरबी के शब्दों का अधिक प्रयोग हो।

हिन्दू मुसलमान दंगों के ज़माने में ऐसा होना किसी क़दर स्वाभाविक था क्योंकि जब हिन्दू मुसलमान के गले पर और मुसलमान हिन्दू के गले पर छुरी लेकर दौड़ रहा था तब एक दूसरे के साहित्य और संस्कृति के प्रति प्रेम क्योंकर पैदा हो सकता था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि ऐतिहासिक रूप से देखा जाय तो उर्दू के पनपने और बनने में हिन्दुओं का लगभग उतना ही हाथ रहा है जितना मुसलमान उसकी तरक्क़ी के लिये ज़िम्मेदार रहे हैं। साथ-साथ, पुरानी हिन्दी की तरक्क़ी में मुसलमानों का हिस्सा आसानी से भुलाया नहीं जा सकता।[२]

इस वजह से कहा कि उर्दू के असली और आख़री प्रेमी यही हो सकते हैं क्योंकि मेरी राय में मुस्लिम संस्कृति और साहित्य के प्रति हिन्दू का मोह उतना तो नहीं हो सकता जितना मुसलमान का हो सकता है। मेरी समझ में यह हिन्दू की कमज़ोरी या साम्प्रदायिकता नहीं। बल्कि हिन्दू साहित्य और संस्कृति के लिये भी. मुसलमानों से इससे ज़्यादा उम्मीद नहीं की जा सकती। शायद मेरी बात कुछ हिन्दू और मुसलमान दोस्तों को कड़वी लगे। लेकिन मेरा ख़्याल है कि ऐसे बुनियादी मामलात में ईमानदारी बरतना अच्छा होता है—कड़वी बातें अकसर आगे चलकर मीठी साबित होती हैं।

२यह लिखते समय हमें मलिक मोहम्मद जायसी, रहीम खानखाना, रसखान, आलम और कबीर इत्यादि से मदद मिलती है। लेकिन यह कहते

ऐसी हालत में हिन्दुओं और मुसलमानों का एक दूसरे की ज़बानों के प्रति यह सलूक दोनों के वास्ते शोकमय है। और ऐसा उस समय हो जब कि देश में हिन्दुस्तानी का बोलबाला हो, जब कि भारत के लगभग दस करोड़ आदमी किसी न किसी शक्ल में एक ही ज़बान बोलते हों, जब कि प्रेमचन्द ऐसा लेखक हिन्दुस्तानी का जीता जागता नमूना हमारे सामने पेश कर गया हो—सोच कर हम और दुखी होते हैं। इससे हमारी हिम्मत बढ़ती नहीं, हमारे सर ऊँचे नहीं होते। एक तरफ पाकिस्तान की मुख़ालफ़त करना और साथ साथ हिन्दी को उर्दू से अलग और दूर करना, और दूसरी तरफ़ से पाकिस्तान का समर्थन करना और साथ साथ उर्दू हिन्दुस्तान कि ज़बान बताना (हिन्दी का बहिष्कार करते हुए) और दूसरों को यह मानने पर मजबूर करना, यह ऐसी अदाएं हैं जो आसानी से समझी नहीं जा सकतीं। परन्तु हम देख रहे हैं आज यही हो रहा है।

बहुत दिनों की बात नहीं जब कुछ महारथियों ने (जी हाँ, इन्हें महारथी ही कहिये क्योंकि जो मनसूबे इन लोगों ने बाँधे थे वे महारथियों के ही हो सकते थे!) इस समस्या पर बहस छेड़ी कि उस हिन्दू समाज को, जिसने अपने हज़ारों साल के इतिहास में कितने ही अन्य समाज

हुए हम हिचकेंगे नहीं कि ज्यों-ज्यों हिन्दी अपनी तरक्क़ी के रास्ते पर बढ़ती गई मुसलमानों की सहानुभूति उसके प्रति घटती गई। यह ऐसी ऐतिहासिक दुर्घटना है जिसे सोचकर मुसलमान गर्व नहीं कर सकते। इसके मुक़ाबले में यदि हिन्दुओं का इन्दराज देखा जाए तो वे अपना सर ऊँचा करके कहने के अधिकारी हैं कि उर्दू के प्रति उनका व्यवहार अधिक कुशल रहा है। और अगर यह कहा जाए कि हिन्दुओं ने हाल में अपना रवईया बदला है तो इसकी शिकायत मुसलमानों को नहीं होनी चाहिये। वैसे यदि आज भी देखा जाय तो उर्दू जानने वाले हिन्दुओं के मुक़ाबले में हिन्दी जानने वाले मुसलमानों की तादाद, आबादी की कमी बेशी का ख़्याल रखते हुए भी, कुछ भी नहीं है। जनाब, ताली दोनों हाथों बजती है!

और भिन्न संस्कृतियाँ निगल डालीं, क्या हो गया है जो लगभग सात आठ सौ साल के संसर्ग के पश्चात् भी इसलामी संस्कृति को हज़म न कर सका। सोच विचार के बाद यह लोग इस नतीजे पर पहुँचे कि यह हिन्दू समाज की पाचन शक्ति की कमज़ोरी है जो ऐसा न हो सका। अकसर रोग-निदान के साथ साथ मर्ज़ के इलाज की तरफ़ भी इशारा होता है। चुनानचे इन लोगों की राय हुई की हिन्दू समाज को अपनी पाचन शक्ति बढ़ानी चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि बात बड़े पते की कही गई थी और मुसलमान इस नुस्ख़े से चाहे कितने ही घबराएँ परन्तु बात ऐसी घबराने की नहीं थी, क्योंकि जीवविज्ञान वालों का क़ौल है कि जीव जैसी ख़ूराक खाने लगता है वैसी ही उसकी स्वाभाविक और मानसिक बनावट भी हो जाती है। चुनानचे हिन्दू को मुस्लिम संस्कृति को हज़म करने में काफ़ी हद तक मुसलमान होना ज़रूरी था। ख़ैर, यह सब दूर की बातें हैं। जिन सज्जनों ने यह नुस्ख़ा हमारे सामने रखा वह लोग स्वयं नेहायत ही रूढ़िवादी और प्रतिक्रियावादी निकले। बात भी ठीक ही थी। चाय की प्याली में से चींटी निकाल कर फेंक देने वाले जन ऊँट क्योंकर निगल सकते थे। अतएव हुआ भी ऐसा ही। मुसलमान संस्कृति को अपने में समोने की बात तो दूर रही, उर्दू के चन्द अच्छे शब्द निगलने में इन सूरमाओं को हिचकियाँ आने लगीं।

लेकिन हम कहाँ से कहाँ चले गए। वास्तव में जो बात हमारे सामने थी वह उर्दू की ख़ूबियों या बुराइयों की बात थी। वास्तव में हिन्दी गद्य से उर्दू गद्य देखने में मुझे अधिक अलंकृत और सुसज्जित लगता है। इसकी वजह यह है कि महावरों और व्याकरण की इसमें ग़ुलामी अधिक है। यह ग़ुलामी किसी को खलती नहीं यदि इसके व्याकरण के सिद्धान्त निश्चित होते और उनमें किसी प्रकार का तर्क होता। इसके विपरीत हम देखते हैं कि उर्दू गद्य में 'ना, ने, नी, को, के, का, की, कर' इत्यादि का ऐसा मेला लगा हुआ है जिसे देख कर आदमी घबरा

उठता है। लखनऊ और दिल्ली के स्कूलों का मतभेद तो पुराना अफ़साना है। उर्दू के विख्यात अँग्रेज़ स्कालर डा० ग्रहम बेली ने, कुछ साल हुए, एक उर्दू प्रेमी को ख़त लिख कर अपनी कठिनाई का प्रदर्शन किया था कि उर्दू ग्रामर पढ़ कर वह निश्चय न कर सके कि कब सिर्फ़ "किताब पढ़ना" और कब "किताब को पढ़ना" चाहिये। "यहाँ दो बातें पैदा होती हैं" और "इस जगह के ऊपर दो बातें पैदा होती हैं" दोनों में से कौन सही है के मज़ाक़ से हम वाक़िफ़ हैं। मेरी ज़ाती राय में दोनों सही मानना चाहिये। अपने अपने व्यक्तिगत बयान का केवल अंतर है। लेकिन हम इस तरह फ़ैसला करने वाले हुए कौन? जिन हज़रात के दरमियान इस तरह की लफ़्ज़ी जंग चलती रहती है वे किसी हालत में समझौते के लिए तैयार नहीं। नमूने देखिये। उर्दू के सम्राट कवि हज़रत जोश मलीहाबादी को मैं अपना दोस्त कह सकता हूँ इसलिये कि उन्होंने मेरे ग़रीबख़ाने पर कभी कभी ठहरने की कृपा की है। चौबीस घंटे की बातचीत में सैकड़ों बार ऐसे मौक़े आते थे जब कि ज़बान की ग़लती से जोश साहब झुँझला उठते थे। उदाहरण हज़ारों नहीं तो सैकड़ों आसानी से दिये जा सकते हैं। लेकिन मिसाल के तौर पर एक ही आध सुनिये। मैंने नौकर से कहा—"पाजामे में डोरी डाल कर लाओ"। जोश साहब ने फ़ौरन डाँटा—"डोरी नहीं, इज़ारबन्द कहो, सही बोलना सीखो"। इसपर लम्बी बहस छिड़ी, बहस ख़तम होने ही को थी कि इतने में एक और साहब के मुँह से निकला—"बारह तारीख़ को हम लखनऊ आ रहे हैं" जोश साहब ने फ़ौरन उन्हें दुरुस्त किया—"बारह तारीख़ नहीं, बारहवीं तारीख़······।" दूसरी ग़लती भी हुई थी जिस पर संयोगवश जोश साहब की नज़र नहीं गई, यानी 'हम' के बजाय 'मैं' होना चाहिये था। तात्पर्य यह कि उर्दू ज़बान इस तरह की मुसीबतों से भरी है और मुहावरों और शब्दों के इसमें ऐसे बन्धन लगा दिये गये हैं कि अच्छे ख़ासे पढ़े लिखे आदमी के लिये भी क़लम उठा कर चार सतर उर्दू लिखना, बग़ैर चार ग़लती

किए हुए, आसान काम नहीं। मैं तो जब उर्दू की भाषा शैली को सोचता हूँ तो अपने दोस्त दयाशंकर 'नसीम' की एक मुक्तक छन्द की दो कड़ियाँ याद आती हैं—

बाँध दिये हैं बाल व पर
उड़ता नहीं परिन्द यह।

ख़ैर, मेरी विशेष परेशानी का कारण यह है कि उर्दू में सही भाषा लिखने के लिये जिस उम्मेदवारी की आवश्यकता है वह आज के ज़माने में हर आदमी को मयस्सर नहीं। मैं ऐसे लोगों को भी जानता हूँ जिन्हें उर्दू पढ़ते और लिखते तीस साल से अधिक हुए (इनमें हिन्दू और मुसलमान दोनों हैं, नाम लेने से क्या फायदा) और जो उर्दू साहित्य के चोटी के साहित्यकार माने जाते हैं। अगर जोश साहब की भाषा की कसौटी पर नज़र रक्खी जाय तो यह लोग बात बात पर ज़बान की ग़लतियाँ करते हैं। परन्तु इस सिलसिले में यदि मैंने जोश साहब का नाम लिया तो मेरा यह मतलब नहीं कि सिर्फ़ जोश साहब ही का ऐसा दृष्टिकोण है। बल्कि आम तौर से उर्दू वालों का ऐसा नज़रिया है। नतीजा यह कि यदि इस तरह की त्रुटि उर्दू बोलने वाले हिन्दू से होती है तो उस पर इस व्यंगात्मक ढंग से मुस्कुराया जाता है कि मानो वह निरा गँवार है। हम गँवार ही सही। परन्तु मेरी कठिनाई तो यह है कि यदि बीस तीस साल की लगातार कोशिश और एँड़ी चोटी का ज़ोर लगाने के बाद भी भाषा की पुष्टि नसीब होती नहीं देखाई देती तो बक़ौल ग़ालिब—"कौन जीता है तेरी ज़ुल्फ़ के सर होने तक।" क्लैसिकल संगीत से मेरी इसी वजह से चिढ़ है। इस कला के उस्तादों को अक्सर कहते सुना है कि सारी रागों रागिनियों की गिन्ती ३६ हज़ार से कम नहीं। माना कि उस्ताद फ़ैय्याज़ ख़ाँ या प्रोफेसर ओंकारनाथ अगर चाहें तो इसी धन्धे में मर-खप कर शायद ३६ हज़ार राग-रागिनियों को अपना लें। लेकिन प्रश्न यह है कि यदि

वे ऐसा कर भी लें तो इस व्यस्त संसार के मनुष्यों को इसका अवकाश कहाँ कि वे अपना इतना ही समय ख़र्च करके इन उस्तादों की ३६ हज़ार राग-रागिनियों की उलट फेर और पैतरों को समझ और परख सकें। आज के साधारण मनुष्य की कम व बेश कुछ इस प्रकार की दिनचर्य्या होती है—रोटी के वास्ते दफ़्तर या कारख़ाने में काम करने जाना, मानसिक मनोविनोद के वास्ते कुछ पढ़ना-लिखना, खाना, पीना, सोना, बीवी बच्चों के वास्ते साड़ी कपड़े गहने और दूसरी चीज़ें ख़रीदना, दवा कराना या सूई लगवाना, चार पैसे ज़्यादा कमाने के लिए किसी की ख़ुशामद करना, स्वास्थ्य के लिए घूमना या खेलना, सिनेमा तमाशा देखना और दूसरों के मरने जीने में सम्मिलित होना। इस व्यस्त जीवन से अगर फ़ुरसत मिली तो सैगल या काननबाला के चंद फ़िल्मी गाने गुनगुना लिये। तबला, पखावज, हारमोनियम, सितार, वायलिन न तो सबको मयस्सर हो सकते हैं और न हर व्यक्ति को इनको समय देने की फ़ुरसत है। जार्ज बरनर्ड शा से किसी ने पूछा कि आपने कभी प्रेम क्यों नहीं किया तो उन्होंने जवाब दिया—"न तो इतनी फ़ुरसत थी और न पास इतने पैसे थे।" ठीक यही हाल है क्लैसिकल संगीत का, जिसके मरने का मुझे इतना अफ़सोस नहीं जितना उर्दू के लोकप्रिय न होकर क्लैसिकल संगीत की मौत मरने का डर है।

इस से किसी को यह नतीजा निकालने का अधिकार नहीं कि उर्दू वाले केवल रूढ़िवादी या प्रतिक्रियावादी ही हैं। इसके विपरीत, उर्दू ने पिछले ज़मानों में जितना सहल और सहज बनने की कोशिश की है और जिस तरह फ़ारसी और अरबी से धीरे-धीरे दूर हटती रही है उतना सम्भवतः हिन्दी ने अभी तक नहीं किया। उदाहरण देने में पन्ने ही नहीं बल्कि पुस्तकें खप जायँगी। नमूने के तौर पर दो शेर सुनिये और ज़बान की आसानी और ख़्याल की ऊँचाई में समानान्तर हिन्दी का पद सोचने की कोशिश कीजिये—

पहाड़ काटने वाले ज़मीं से हार गये
इसी ज़मीन में दरिया समाये हैं क्या क्या।
बुलन्द हो तो खुले तुझ पे ज़ोर पस्ती का
बड़े बड़ों के क़दम डगमगाये हैं क्या क्या।

इसके अलावा, उर्दू वाले भी उतने ही अच्छे प्रयोगकारी हैं, जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, जितने हिन्दी वाले, बल्कि मेरी राय में तो हिन्दी वालों से किसी क़दर ज़्यादा।

उदाहरण-स्वरूप, जोश साहब और दूसरे कलाकारों को भाषा को बनाने और सँवारने के ख़्याल से मैंने अक्सर परेशान होते देखा है। एक बार जोश साहब मुझसे इस विषय पर बहस करने लगे कि उर्दू और हिन्दी में भी क्यों नहीं संज्ञा उसी आसानी से क्रिया में बदल दी जाया करे जैसे अंग्रेज़ी में होता है। उनके कहने का मतलब था 'ख़र्च करना', 'घमण्ड करना', 'नमाज़ पढ़ना', 'लालच करना', इत्यादि की जगह क्यों न 'ख़र्चना', 'घमण्डना','नमाज़ना', 'ललचाना' इत्यादि बोला और लिखा जाय। 'लालच करने' के बजाय 'ललचना' हिन्दी में लिखा जाता है लेकिन मुश्किल यह है कि इसे उर्दू वाले सुनकर मुस्करा देंगे और कहना चाहेंगे कि इस शब्द से भद्दगी अर्थात् गँवारपन टपकता है। उर्दू वाले ललचने की बजाय ललचाना लिखेंगे। कहने का मतलब यह कि यदि हिन्दी में ऐसे शब्द हों तो हिन्दी गँवारों की भाषा कहलाये। वास्तव में उर्दूवालों की सांस्कृतिक बड़ाई का गुमान मेरी समझ में नहीं आता। दोनों भाषाओं के साहित्यिक इतिहास का ज्ञान रखते हुए कौन व्यक्ति यह मानने से इनकार करेगा कि जहाँ हिन्दी का निर्माण और विकास उत्तरी भारत के झोपड़ों की दीनता और पराजय की धूल माटी में हुआ वहाँ उर्दू इन्हीं प्रान्तों पर शासन करने वाली सामन्तशाही के दरबारों में पनपी, तरक्क़ी की और सुरमा ग़ाज़ा (पाउडर) लगाकर हमारे सामने आई। ऐसी

हालत में सम्भव है हिन्दी के मुक़ाबले उर्दू में ज़बान की सफ़ाई और चमक दमक अधिक हो। लेकिन आज की दुनियाँ में जब कि सामन्तशाही मर चुकी है और पूँजीवाद उसकी जगह लेने वाला है, जिसे जनता की एक नई भाषा बनाने की आवश्यकता है, उर्दू का हिन्दी के प्रति व्यंगात्मक दृष्टिकोण रखना अनुचित है। वास्तव में जो भाषा बनने वाली है वह न हिन्दी होगी न उर्दू। खेतों, कलों और कारख़ानों में काम करने वाली ६० फ़ी सदी नई जनता, अपने जीवन और कारोबार की ज़रूरतें महसूस करते हुए, जो नई भाषा पैदा करेगी वह भविष्य की भाषा होगी। जिस तरह आज के वेलायत की जनता की भाषा न तो 'चासर' के समय की भाषा है और न उन्नीसवी शताब्दी की 'कारलाइल' की भाषा है, वैसे ही इस देश की भविष्य की भाषा इस लड़ाई से पहले की न उर्दू होगी और न हिन्दी। वास्तव में आने वाली नस्लों की आवश्यकतानुसार इन दोनों को अपने चोले बदलने होंगे। ऊपर से नीचे उतर कर इन्हें जनता तक आने में जनता की बोलचाल की भाषा से बहुत कुछ प्रभावित होना पड़ेगा। भाषा के प्रश्न पर चीन के जगद्विख्यात लेखक 'लिन युतांग' की राय मुझे जितनी पसन्द है उतनी किसी और की नहीं। वे लिखते हैं—

"भाषा के लिये दो खानें होती हैं, एक नई और एक पुरानी। पुरानी खान किताबों में होती है और नई खान जनता की बोलचाल में। दूसरी श्रेणी के कलाकार पुरानी खानों में खोदते रहते हैं। लेकिन प्रथम श्रेणी के कलाकार नई खान ही में काम की चीज़ें पा सकते हैं। पुरानी खान से निकलने वाली धातें गलाई और परखी जा चुकी हैं, लेकिन नई धातों के साथ अभी ऐसा नहीं हुआ।"[3]

वास्तव में यदि हम इस दृष्टिकोण से देखते हैं तो उर्दू और हिन्दी

---

[3] Lin Yutang : The Importance of Living (The Art of writing) p. 421

वाले दोनों ही ग़लत रास्तों पर चलते नज़र आते हैं। लेकिन इस बात को छोड़िये। मैं कह यह रहा था कि जोश साहब तथा उर्दू के दूसरे कलाकार वैसे रूढ़ी और प्रतिक्रियावादी नहीं जैसा कि ऊपर के कथन से प्रगट हो सकता हो। बल्कि मेरी तुच्छ राय में उर्दू साहित्यक हिन्दी साहित्यिकों के मुक़ाबले में, कम से कम जितनों का मुझे अनुभव है, जीवन और साहित्य की ओर अधिक प्रगतिशील दृष्टिकोण रखते मालूम होते हैं। ऐसा लिखते समय मेरे नेत्रों के सामने दोनों भाषाओं के चोटी के साहित्यिक हैं। मेरी राय कोई राय में राय नहीं हुई, यह मैं स्वयं जानता और समझता हूँ। बल्कि मैं यह चाहूँगा भी नहीं कि मेरी राय पर अधिक ध्यान दिया जाय, क्योंकि असल में हिन्दी लेखकों से मुझे व्यक्तिगत चिढ़ है और इस चिढ़ के कई कारण हैं। प्रथम, इनमें से अधिक का जीवन व साहित्य पर नज़रिया इतना पस्त और ग़लत है कि इन लोगों के प्रति मुझमें श्रद्धा के भाव उत्पन्न नहीं होते। नमूने देखिये। अकसर इन्हें बातचीत करने का ढंग नहीं मालूम, जब बोलेंगे तो इस ज़ोर से कि इसका ध्यान नहीं रहेगा कि कमरा कितना छोटा है या इनके श्रोता एक या एक से अधिक हैं[४]। कपड़े लत्ते इस ढंग के पहनेंगे कि दूसरों को अपने भेष से अधिक से अधिक प्रभावित कर सकें। उदाहरण-स्वरूप, यदि खद्दर पहनेंगे तो देश-प्रेम के नाते नहीं बल्कि इस ख़्याल से कि जो इन्हें देखे झपट कर इनके चरण छू ले। अगर रोमैंण्टिक कवि के नाम से अपने को बदनाम किये हुए हैं तो अँग्रेज़ी कपड़ों को फूल से इस तरह सुसज्जित कर लेंगे कि कीट्स और

---

[४]ऐसा लिखते समय मैं पन्त जी, श्रीमती महादेवी वर्मा, भगवती बाबू, वात्सायन जी, जैनेन्द्र जी और कई और को भूला नहीं हूँ जिनसे बारबार मिलना कोई भी अपने जीवन का गर्वपूर्ण अनुभव समझ सकता है। परन्तु इस समय मैं एक दो की बातें नहीं कर रहा हूँ। बल्कि यह उस समूह का चित्रण है जो हिन्दी लेखक और साहित्यिक के नाम से देश में व्यापार कर रहा है।

शैली को मुँह चिढ़ाते नज़र आयेंगे। इतना भी तो बेचारे अभी निश्चय नहीं कर पाये कि किसी से मिलने पर अँग्रेज़ी में 'हलो' कहें या हाथ जोड़ कर नमस्कार करें। परन्तु हिन्दू संस्कृति का बोझ सर पर रख कर दूसरों को प्रभावित करने से हिचकते नहीं। मुझे तो इनको देख कर दया आती है और अपने देश और संस्कृति पर ग्लानि होती है। गर्व इन्हें इतना कि अगर आप पूछ बैठें कि हिन्दी में सब से श्रेष्ठ कवि या कलाकार कौन है तो दो चार आदमियों के नाम गिना कर, श्रीमान और श्रीयुत घटा बढ़ाकर, इस तरह पान की पीक सँभालते हुए मुस्करायेंगे जैसे आप स्वयं वह श्रेष्ठ कवि या कलाकार हैं। जिसे देखिये साहित्य की सेवा कर रहा है, जैसे बेचारे ऐसे भोले हैं कि अपनी सेवा करना जानते ही नहीं। अपनी कीर्ति पर इतना गर्व की आम तौर से दूसरे की चीज़ पढ़ना ज़रूरी नहीं समझते। दुनियाँ क्या है और किधर जा रही है ? अगर इनसे पूछ बैठिये तो गाँधी जी का नाम लेकर गाँधी टोपी यदि हाथ में लिये बैठे होंगे तो उसे सर पर रख लेंगे। यदि आप मेरी बात का यक़ीन न करें तो एक दिन चार पाँच हिन्दी के साहित्यकार कहलाने वालों को अपने यहाँ इकट्ठा करके देख लीजिये। मौक़ा देख कर इनकी लेखनी की तारीफ़ कर दीजिये, बहुत आसानी से आपके घर चले आयेंगे। जब तक आपके यहाँ बैठे रहेंगे सिवाय 'लोकनाथ' की मिठाई और 'पानदरीबा' के पान की प्रशंसा के और कोई बात न करेंगे। अगर आप इन्हें साहित्यिक विषयों पर बात करने पर मजबूर कर देंगे तो साहित्य सम्मेलन का ज़िक्र करके अपनी साहित्य सेवा गिनाने लग जायेंगे। फिर यह देश भी तो अजीब है। यहाँ यों भी आम तौर से कोई अपनी सेवा नहीं करता। किसी न किसी आदर्श या संस्था, कांग्रेस से लेकर विधवाश्रम तक, की ख़िदमत करके ही जीता है। फिर भी हम अभी तक ग़ुलाम हैं—अंग्रेज़ों को भी इस पर आश्चर्य होता होगा !

चीनी लेखक 'लिन युतांग' का कहना है कि किसी राष्ट्र को उन्नति

करने के लिये जहाँ कई और राष्ट्रीय लक्षणों की आवश्यकता होती है वहाँ एक मात्रा में Sense of humour नेहायत ज़रूरी है। मेरा व्यक्तिगत ख़्याल है कि संसार की और जातियों के मुक़ाबले हिन्दुस्तानियों में इस लक्षण की बहुत कमी है। और हमारे लेखकों और साहित्यिकों में तो इसकी इतनी कमी है कि इनकी दशा या दुर्दशा देख कर हिन्दुस्तानी कहलाने का लोभ नहीं रह जाता। मतलब स्पष्ट करने के लिये मैं अपना ही एक अनुभव सुनाता हूँ। शायद १९४२ की बात है। उस समय मेरी कुछ कहानियाँ हिन्दी पत्रिकाओं में छप चुकी थीं। परन्तु यह बात इतनी महत्वपूर्ण नहीं जितनी यह कि एक बड़ी तादाद में छोटे और बड़े हिन्दी साहित्यिकों से मेरा परिचय हो गया था। हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सालाना जलसा 'अबोहर' में होने वाला था और एक ही आध महीने रह गये थे। हिन्दी साहित्यिकों के दिमाग़ पर अबोहर छाया हुआ था। चुनानचे जब सड़क या चौराहे पर किसी हिन्दी लेखक से भेंट होती तो वह महाशय, नमस्कार दण्डवत के पश्चात्, छूटते ही पूछते—"कहिये अबोहर जा रहे हैं?" या यह कि—"अबोहर कब जा रहे हैं?" एक बार हुआ, दस बार हुआ, मैं सोचकर परेशान हो जाता, आख़िर मैं अबोहर क्यों जाऊँ। यूनीवर्सिटी में अर्थशास्त्र में रिसर्च करने वाला मामूली विद्यार्थी, टूटी फूटी भाषा में मुश्किल से दो चार कहानियाँ लिखी थीं, मैं अबोहर जाऊँ तो क्यों जाऊँ? लेकिन बात यह कि मुँह में पान के बीड़े भरे हुए, सर के बालों से चमेली के तेल के क़तरे टपकाते हुए, चुटिया की गाँठ सीधी किये, दाँत निपोर कर हिन्दी साहित्य की सेवा करने वाले इस हद तक मानसिक खोखलेपन से ग्रस्त हैं कि अगर इस तरह की बातें न करें तो और किस विषय पर ज़बान खोलें। वास्तव में निचले मध्यम वर्ग का यह वह भाग है जो जीवन को सफल बनाने के लिये, म्युनिसिपल बोर्ड की मेम्बरी से लेकर सस्ता भोजन भाण्डार चलाने तक, कोई भी काम कर सकता था। यह आपका और हमारा

दुर्भाग्य है जो इन महानुभावों ने, एकाध कवितायें या कहानियाँ लिख कर साहित्यिक व्यापार को अधिक लाभप्रद पाकर, इसे ही ग्रहण कर लिया। इन लोगों से भाषा या साहित्य के प्रश्न पर कोई विचारशीलता या प्रगतिशीलता की आशा करना इनके साथ ज़्यादती करना होगा। यह लकीर के फ़क़ीर हैं, और इनके वास्ते सत्य और सही वही है जो इन लोगों ने, जन्म के पश्चात, आँख खोलते ही देखा था।

हिन्दी लिखने वालों में मुझे जो दूसरी कमी मालूम होती है वह है श्रद्धा का अभाव। एक लेखक में दूसरे के प्रति इतना दुर्भाव है कि उसके जाने सुने बड़प्पन को भी स्वीकार करते इनको पसीना आ जाता है। कभी-कभी इसको प्रत्यक्ष देख कर तबीयत बौखला उठती है। जिसे देखिये अपनी तीन ईंट की मस्जिद बनाये बैठा है और उसमें अपने को महान और श्रेष्ठ समझता है। मुझे हिन्दी के बहुत कम ऐसे लेखक मिले जो प्रेमचन्द को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। बल्कि बहुत से तो इनमें ऐसे हैं जो प्रेमचन्द को बड़ा साहित्यकार मानते ही नहीं[५]। इसके विपरीत मैं उर्दू वालों में प्रेमचन्द के प्रति अधिक भाव और सम्मान पाता हूँ। यही बात मैंने हिन्दी के लेखकों से कही, जिसके जवाब में उन्होंने मुझे यह समझाना चाहा कि चूँकि प्रेमचन्द के बाद उर्दू में कोई बड़ा साहित्यकार पैदा नहीं हुआ इसलिये वहाँ उनकी इज़्ज़त

---

[५] इसके विपरीत देखिये और देशों और उनके साहित्य में क्या रवाज है। यह कौन नहीं जानता कि गार्की और टाल्सटाय के बीच कितनी बड़ी सैद्धान्तिक खाई थी। परन्तु इसका अन्दाज लगाने के लिये कि गार्की टाल्सटाय और दूसरे रूसी साहित्यकों की कितनी इज्जत करता था उसकी लिखी हुई पुस्तक (Reminiscences of Tolstoy, Chekhov and Andreev By Maxim Gorky) पढ़िये। इसी तरह लिन युतॉंग की पुस्तक (The Importance of Living) पढ़िये और देखिये बड़े साहित्यकों में अपने पराचीन और लगभग गुमनाम कलाकारों के लिये भी कितना सम्मान और प्रेम का भाव होता है।

अधिक है। हिन्दी में इसका उलटा है, यानी हिन्दी का आधुनिक गद्य इतना आगे बढ़ गया है कि प्रेमचन्द चुटकियों में उड़ जाते हैं। बात बुरी लगी इसलिये मैंने छूटते ही कहा—"जनाब, अगर बात इस हद तक पहुँच गई तो मैं यह कहने का अधिकार रखता हूँ कि प्रेमचन्द को ख़रीदने के लिये मैं हिन्दी का सारा आधुनिक गद्य बेचने को तैयार हूँ।" और वह बात अब भी किसी के सामने दोहराने को तैयार हूँ।

संक्षेप में यह कहना चाहूँगा कि हम लकड़ी की खड़ाऊँ पहन कर इतने ऊँचे नहीं हो सकते कि प्रेमचन्द के बड़प्पन को पहुँच सकें। प्रेमचन्द की बराबरी करने के लिये प्रेमचन्द का statnre होना चाहिये। आज जब हम हिन्दी और उर्दू जगत की ओर आँखें उठा कर देखते हैं तो न तो प्रेमचन्द का 'स्टेचर' नज़र आता है और न उनके साहित्य के चौड़े कन्धे। यों तो देखने में जोश साहब के कन्धे बहुत चौड़े लगते हैं, लेकिन कुछ कारणों से जोश मुझे उतने भारी नहीं लगते। वजह हो सकती है कि अभी वह हमारे सामने हैं। सम्भव है हम उनका जनाज़ा उठा कर उनके वज़न को महसूस करें।[६]

उर्दू हिन्दी की बहस बहुत लम्बी हो गई, इसका मुझे ख़याल है। इससे भी अधिक जिस बात का ख़याल है वह यह कि साहित्य की ऊँचाई से उतर कर साहित्यकों के सम्बन्ध में मैंने जो बातें की हैं इससे बहुतेरे नाराज़ हो सकते हैं। परन्तु नाराज़ होने न होने की बात नहीं। मेरा विश्वास है कि आज इस बात की सख़्त ज़रूरत है कि देश के हर श्रेणी और वर्ग के लोग एक मात्रा में Heart searching करें, क्योंकि कोई त्रुटि या कमी कहीं न कहीं है ज़रूर जो हम आज दुनियाँ की तसवीर पर राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक अथवा साहित्यिक

---

६ पंजाब की ओर के कुछ उर्दू लिखने वाले नौजवान साहित्यिकों ने कभी-कभी अपने कन्धे प्रेमचन्द से नापना चाहा है। लेकिन वह भूल जाते हैं कि उनके कन्धे दर्ज़ी के बनाये हुए 'नक़ली' कन्धे हैं। मध्यम वर्ग के 'सेक्स' साहित्य लिखने वाले विफल जन प्रेमचन्द की क़तार में नहीं खड़े हो सकते।

किसी भी रूप से कहीं नज़र नहीं आते । अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में अँग्रेज़ी, फ्रांसीसी, जर्मन और रूसी साहित्य के सितारे, एक के बाद एक, हमारी आँखों के सामने चमके। आज चीनी साहित्य की रोशनी सारी दुनिया पर पड़ रही है। परन्तु इस विश्व-साहित्य के पर्दे पर जब अपने को देखते हैं तो, टैगोर के बावजूद, हम धुले धुले नज़र आते हैं। ऐसी हालत में यह आवश्यक है कि जो लोग साहित्यिक भेष बनाये फिरते हैं वे अपने लबादे उतार कर (चाहे वे खद्दर ही के बने क्यों न हों) फ्रांस के मशहूर कलाकार 'आगस्ते रोदाँ' की बनाई हुई उस नंगी मूर्ति की तरह बैठकर सोचें जो 'Thinking' के नाम से मशहूर है।

आख़िर में मैं पाठकों से केवल एक प्रार्थना करना चाहूँगा वह यह कि मेरी बातें सुन कर वे चाहे जो भी राय क़ायम करें परन्तु हिन्दी उर्दू के झगड़े में मुझे पक्षपाती समझने की ग़लती न करें। यदि उर्दू साहित्यिकों के बारे में ज़्यादा कुछ मैंने नहीं कहा तो इसकी यह वजह नहीं कि उनमें ख़ामियाँ नहीं।[७] बल्कि, प्रथम तो साहित्यिकों की

---

[७]आज के उर्दू के नौजवान लेखकों के सम्बंध में कौन नहीं जानता कि वे किस तरह शराब पीकर और तवायफ़ों के गुन गाकर अपना अमूल्य जीवन और समय बिता रहे हैं। इसमें बहुत से ऐसे भी हैं जिनमें प्रथम श्रेणी की प्रतिभा है। परन्तु इन बेचारों ने अपनी कला और अपने आत्मबल को इस प्रकार नष्ट करना निश्चय कर लिया है कि सोच कर शोक होता है। हालाँकि यह सबके बारे में नहीं कहा जा सकता परन्तु यह बीमारी ऐसी फैली हुई है कि इसकी जिक्र करना आवश्यक है। यह भी सही है कि जब हम किसी साहित्यकार पर व्यक्तिगत रूप से सोचते हैं तो उसकी आदतों से उलझ जाना स्वस्थ दृष्टिकोण नहीं। परन्तु जब देखते हैं कि उनकी कोई विशेष आदत उनकी कला और ख़ुद उनको हमारे हाथों से छीने ले रही है तो हम उँगली देखाने पर मजबूर होते हैं। वैसे तो इनसे अगर पूछा जाय ' यह लोग वही कहेंगे जो ग़ालिब ने कहा था—

मय से ग़रज़ निशात है किस रुसियाह को
यक गूना बेख़ुदी मुझे दिन रात चाहिये।

बुराई करना मेरा ध्येय नहीं। दूसरे यह कि बात यों ही इतनी बढ़ गई है कि और बढ़ने पर भूमिका स्वयं पुस्तक की जगह ले लेगी। अस्तु, जो कुछ मैंने यहाँ कहा वह दिल से कहा। आये दिन हिन्दी और हिन्दी साहित्यिकों के तरीक़े देख कर जी झुंझला उठता है, शायद इस वजह से कि मैं हिन्दी से प्रेम करता हूँ और उसकी कुशल और उन्नति चाहता हूँ।

लेकिन हिन्दी की आज ऐसी दुर्गति है कि उसके प्रेमी को भावनाओं से परिप्लावित होकर केवल हाथ जोड़ और आँखें मूँद कर उसका उपासक बनने से ज़्यादा ज़रूरी यह समझना चाहिए कि वह हिन्दी साहित्य और साहित्यिकों की जो सर और कन्धे झुकाये नेत्र मूँदे एक आध्यात्मिक मजलिस बैठी हुई है (देखने में जो 'निकोलस रोरिक' की गहरे रंग में किसी चित्र जैसी लगती है) उसमें हुल्लड़ मचा दे, ताकि यह सोये जन जाग जायँ और अपने गिर्द मुड़ कर उस चालीस करोड़ कलुषित, गर्हित और पीड़ित मानवता को देखें जो उन्हें अपने दुख

सच भी है—दुनियाँ इतनी खराब, इसके तरीक़े इतने ज़लील और कृत्रिम—हर तरफ़ उदासी ही उदासी, बेचारे अपने को ऐसे समाज में पाकर करें भी तो क्या करें। दुनियाँ को लेकर तोड़-मोड़ डालना और फिर से उसका नये रूप से निर्माण करना आज के जमाने में आसान काम नहीं। इसलिये बेचारे इस तरह ख़ुद को खोये रहते हैं (वैसे ही जैसे हिन्दी के लेखक आध्यात्मिक कमरिया ओढ़ कर अपने को खोये रहते हैं)। जब होश आया तो दो-चार नज़्में या अफ़साने लिख लिये, जिन पर वही औरत और शराब छाई रहती है जो कलाकार की आत्मा और मस्तिष्क पर छाई हुई है। आदमी जो करता है उसके बचाव के साधन भी सोच लेता है। चुनानचे प्रगतिशीलता की इन लोगों ने ऐसी ढाल बना ली है जिसके पीछे से जितनी भी ग़ैर जिम्मेदाराना हरकतें करें कम है। संसार में और भी इनके काम हैं, यह शायद इन्हें मालूम नहीं। हालाँकि इन्हीं में से एक भले मानुस का शेर है—

और भी दुख हैं जमाने में मोहब्बत के सिवा।
राहतें और भी हैं वस्ल की राहत के सिवा।

दर्द की कहानी सुनाने को तैयार है। और इस तरह यह लोग उसके प्रति, साहित्यिक होने के नाते, अपना कर्त्तव्य पूरा कर सकें।

हिन्दी उर्दू की बहस समाप्त करते हुए आख़िर में मुझे केवल यही कहना है कि यह निश्चय कर लेना कि हिन्दी उर्दू से या उर्दू हिन्दी से श्रेष्ठ है बेमानी बहस होगी। दोनों भाषाएँ एक दूसरे से, काफी अंशों में मिलती-जुलती हुई भी, काफी विभिन्न हैं और विभिन्न रहेंगी, क्योंकि दोनों के उद्‌गम, आत्मायें, रूढ़ियाँ और दोनों के पीछे जो संस्कृति हैं वे भिन्न हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आगे चलकर दोनों एक दूसरे से काफी फायदा उठायेंगी और फायदा उठा कर एक दूसरे के समीप आ जायेंगी, और जिस मात्रा में समीप आ सकेंगी वह हिन्दुस्तानी की जीत होगी। फिर भी हिन्दी बिलकुल उर्दू या उर्दू बिलकुल हिन्दी नहीं हो सकेगी। इसके विपरीत, दोनों ज़बानें एक दूसरे के बहुत समीप आकर भी अलग रहेंगी। दोनों के अलग रहने में केवल लिपि ही की बात नहीं है बल्कि दोनों का, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक रूप से देखते हुए, अलग रहना ही ज़रूरी है और यह दोनों के कुशल का कारण होगा। असल में हिन्दी और उर्दू में जो अन्तर हम देखते हैं वह केवल सतही नहीं है, जिसके लिए यह समझा जाय कि हिन्दी और उर्दू के साहित्यकार ज़िम्मेदार हैं। बल्कि दोनों के पीछे दो विभिन्न सांस्कृतिक इतिहास हैं, जिन्हें मिटा कर हम दोनों में से किसी का भी कल्याण नहीं कर सकेंगे। एक साथ पाँच किताबें हिन्दी और पाँच उर्दू की पढ़िये। पढ़ने के बाद साफ़ मालूम हो जायगा कि दोनों के पीछे दो रूढ़ियाँ और संस्कृतियाँ हैं। और इसमें भी सन्देह नहीं कि वे दोनों हिन्दू और इसलामी संस्कृति की बुरी तरह याद दिलाती हैं और उनकी विभिन्न तस्वीरें हमारे सामने लाती हैं। परन्तु इससे हमें डरना या घबराना नहीं चाहिये क्योंकि साथ-साथ हमें इनमें किसी प्रकार का सांस्कृतिक द्वन्द्व नहीं देख पड़ता। बल्कि हम तो दृढ़ रूप से यह भी कहने को तैयार हैं कि आगे चल कर जब पूँजीवाद एक

प्रकार की सांस्कृतिक एकता हमारे दरमियान पैदा कर देगा तब हिन्दी और उर्दू के एक दूसरे के और अधिक समीप आने की गुंजाइश हो जायगी (समाजवाद की दुनिया में तो दोनों तस्वीरों के रंग और भी मिलने लगेंगे)। वह युग हिन्दुस्तानी का युग होगा, लेकिन उस बहार में बँगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी, तेलगू इत्यादि के साथ हिन्दी और उर्दू के फूल भी खिले नज़र आयेंगे।

जब हम हिन्दी और उर्दू की एक दूसरे के समीप आने की बात सोचते हैं तब ख़ामोख़्वाह हमारा यह मतलब नहीं होता कि हिन्दी वाले उर्दू शैली तथा कला की और उर्दू वाले हिन्दी शैली और कला की नक़ल करने लग जायें। बल्कि मेरे ख़्याल में दोनों अपना-अपना व्यक्तिगत अस्तित्व और प्रतिभायें अलग रख कर भी एक दूसरे की ख़ूबियों को अपना सकते हैं। कूएँ का मेंढ़क बनने से किसी का लाभ नहीं। यदि हम अँगरेज़ी, फ्रेंच, रूसी और चीनी साहित्य को पढ़कर उनसे प्रभावित हो सकते हैं और फायदा उठा सकते हैं तो कोई वजह नहीं क्यों हिन्दी और उर्दू दोनों से एक साथ प्रभावित न हों। इस काम में अनुवादों और अनुवादकों से हमें बहुत सहायता मिल सकती है, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन जहाँ तक हिन्दुस्तानी का प्रश्न है उसका भला तो 'मिडिल' या 'हाई स्कूल' तक हिन्दी और उर्दू दोनों पढ़ना आवश्यक बना कर ही कर सकते हैं।

रही शब्द-कोष की बात सो वह कठिनाई बहुत हद तक हल हो सकती है यदि 'लिन युतांग' का कहना हम याद रक्खें, यानी जनता की बोल-चाल को अपना कोष बनायें। वास्तव में आज के विश्व-साहित्य के सामने कला और शैली का उतना प्रश्न नहीं है जितना भावों के अभिव्यक्ति का। उच्चकोटि का कलाकार भाषा और व्याकरण के बन्धनों से मुक्त होकर अपनी बात जिस तरह भी हो सके कहने का प्रयत्न करता है। इसी ध्येय से 'जेम्स ज्वायस' ने 'युलीसीज़' लिखा। 'डान पैसास' ने बिना बिन्दी और 'कामा' के दो दो पन्ने के एक एक

वाक्य लिखे। सब का ध्येय केवल अपना मतलब ही प्रगट करना था। यही दृष्टिकोण आज हमें अपने सामने भी रखना है। और जो इस उद्देश से आगे बढ़ेगा उसे भाषा की कठिनाई नहीं पेश आयगी—यानी किसी ख़ास अवसर पर हिन्दी या उर्दू के शब्द का प्रयोग किया जाय। लेकिन इसके वास्ते हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम जनता के जितने निकट हो सकें हों। 'ड्राइंग रूम' या 'रैस्टरॉं' में बैठ कर इस क़िस्म का साहित्य नहीं पैदा किया जा सकता।

अपनी कहानियों के सम्बंध में मुझे कुछ नहीं कहना है। इनमें good, bad, indifferent सभी तरह की कहानियाँ आप पायेंगे। किसी को कोई अच्छी लगेगी किसी को कोई। अपनी अपनी तबियत और रुचि की बात है। स्वयं मुझे 'कहीं फ्रांस में···' नाम की कहानी अच्छी लगती है, परन्तु उसे पढ़ते समय १६४० का वह समय याद रखना होगा जब फ्रांस पर क़ब्ज़ा करके हिटलर निश्चय न कर पा रहा था कि वह पश्चिम या पूरब की ओर बढ़े। इसके एलावा कहानियों के बारे में मुझे कुछ और नहीं कहना है। ख़ुद पढ़िये और राय क़ायम कीजिये। मेरे एक दोस्त ने एक बार मुझे लिखा—'तुम्हारी कहानी पढ़ी, कुछ ख़ास पसन्द न आई'। जवाब में मैंने लिखा—कहानियाँ लिखना मेरा काम नहीं और न इस ख़्याल से लिखता हूँ कि बहुत अच्छी होती हैं। आरम्भ में बताया कि लिखना मैंने शुरू क्यों और कैसे किया। इसके बाद भी लिखता रहा और यह जानते हुए कि बहुत अच्छी नहीं लिखता हूँ। इसकी वजह यह कि अर्थशास्त्र ऐसी स्थूल ठोस और थका देने वाला विषय पढ़ने-पढ़ाने के पश्चात् जब तबियत बदलने के लिये किसी और चीज़ से जी लगाना चाहा तो कहानी लिखने से अधिक और कोई मनोरंजक उपाय न सोच सका। अगर ब्रिज या फ़लाश बचपन में खेलना आ गया होता तो कहानी न लिख कर ताश खेलता। परन्तु इस बात की सफ़ाई अवश्य देनी है कि लिखने को तो लिखा पर अब उसे 'पुस्तकों से पीड़ित' पाठकों पर क्यों थोप रहा हूँ।

जब कहानियाँ लिखीं तब पैसा कमाना ध्येय न था। परन्तु जब काफ़ी लिख चुका तो प्रकाशकों ने उन्हें पुस्तक के रूप में छपाने को कहा। पहले तो राज़ी न हुआ क्योंकि न तो कहानियाँ इतनी अच्छी समझता था कि पुस्तक के रूप में उन्हें पढ़ने वालों पर बरसा दूँ और न इस भयंकर युद्ध के समय, जब कि मानवता लड़ाई लड़ कर अपने भविष्य का निर्णय कर रही है, इसे बहुत ज़रूरी काम ही समझा। परन्तु जब प्रकाशकों ने रुपये की लालच दिलाई तो फिर से सँभल कर सोचा और इस नतीजे पर पहुँचा कि ढाई सेर गेहूँ बिकने के युग में यदि कुछ इस हाथ आ जाय तो बुरा क्या है। असल में चवन्नी की लालच भी बुरी लालच होती है। अक्सर मैंने इस पर ग़ौर किया है कि चलते फिरते रास्ते में अगर पड़ी हुई चवन्नी मिल जाय और किसी के देखने या पुलिस का भय न हो तो कितने आदमी उठा न लेना चाहेंगे। चूँकि भारत की दरिद्रता आँखों के सामने थी इसलिये केवल चवन्नी की बात सोची। वेलायत और अमेरिका का ज़िक्र करते हुए शिलिंग और डालर कहिये, बात वही रहती है, बदलती नहीं। आज आदमी के सामने पेट भरने का सवाल सब से बड़ा सवाल है, जिसका इलाज चवन्नी है। चवन्नी पाने के तीन उपाय हैं, या तो मेहनत करके पाइये, कहीं पर पड़ी पा जाइये, या किसी की जेब से निकाल लीजिये। पहली उपाय ऐसी है जिस पर आपको अधिक क़ाबू नहीं क्योंकि अर्थ-शास्त्र के एक सिद्धान्त के अनुसार हमारे हर मेहनत के बदले चवन्नी नहीं मिल सकती। चवन्नी देने वालों को पहले यह समझना ज़रूरी है कि वे उस चीज़ को चवन्नी लायक़ समझते हैं। रही इधर उधर पड़ी पा जाने की बात, सो वह हर आदमी को नहीं मिलती। उसके लिये साहू महाजनों के समान भाग्यशाली होना चाहिये क्योंकि यही लोग सुबह शाम दूर दूर तक चींटी को आटा खिलाने जाते हैं! दूसरों की जेब से चवन्नी निकालने की हिम्मत हर आदमी में नहीं होती। उसके लिये जीवन हठ और उसकी चेतना अधिक मात्रा में होना ज़रूरी है।

अब आख़िर में आप पूछेंगे कि बारह कहानियाँ बेचने के लिये इतनी लम्बी चौड़ी बकवास की क्या ज़रूरत थी। इसका जवाब यह है कि बकना जैसे हर आदमी की आदत होती है वैसे ही मेरी भी कमज़ोरी है। और अगर सच पूछें तो कुछ इसी क़िस्म की बातें सुनाने की ग़रज़ से कहानियाँ लिखने के लिये मैंने क़लम उठाया था। लेकिन चूँकि इस आसानी और इतने साफ़ तरीक़े से यह बातें कहानियों में नहीं कही जा सकती थीं इसलिये इन्हें यहाँ दर्ज कर दिया। अब इससे आगे कहानियाँ पढ़ने को आपका जी चाहे न चाहे, यह आपकी ख़ुशी। मैं यह भी कहने का साहस नहीं रखता कि न पढ़ने से आपका कोई नुक़सान होगा। नुक़सान जो होना था हो चुका, दो रुपये आपने ख़र्च किये वह मेरी जेब में आये, यानी वही चवन्नी वाला नुस्ख़ा। अस्तु, ख़ुद तो मैं यह सोचता हूँ कि इस तरह की बातें लिखने के वास्ते आपको मेरा कृतज्ञ होना चाहिये। यानी अपनी कला, शैली, मौलिकता और प्रतिभा इत्यादि पर बहस न करके मैंने दूसरों के बारे में बातें की वरना पहली सूरत आपकी चमता के लिये अधिक घातक साबित होती।

बक़ौल श्री यशपाल, जब किताब लिखी है तो धन्यवाद भी किसी न किसी को देना ही है। किन्तु कहने का आशय यह नहीं कि धन्यवाद देना आवश्यक नहीं या फ़ज़ूल है। बल्कि ख़ास तौर से अपने दोस्त रोबी देव (रवीन्द्रनाथ देव, लेक्चरर अंग्रेज़ी डिपार्टमेण्ट, इलाहाबाद यूनीवर्सिटी) का मैं आभारी हूँ, जिन्होंने 'टूटे हुए दिल' की तस्वीर बनाई! इण्डियन प्रेस के सैयद महमूद अहमद 'हुनर' साहब और इलाहाबाद यूनीवर्सिटी के विद्यार्थी पं० इन्द्रप्रताप तिवारी ने हस्तलिखित प्रति तैयार करने में मेरी जो मदद की है उसके लिये मैं जानता हूँ सिर्फ़ ज़बानी शुक्रिया कभी भी काफ़ी न होगा। लोग अपने प्रकाशक को भी धन्यवाद देते हैं। मालूम नहीं मैं अपने दोस्त शबीह अहमद साहब की हिम्मत को बधाई दूँ या उस पर शोक प्रकट करूँ

क्योंकि अन्त अभी मालूम नहीं। बहरहाल अभी हम दोनों को ख़ुश हो रहना चाहिये, जब डूबेंगे तो यार को लेकर डूबेंगे !

२ जनवरी, १६४४
३३ कचेहरी रोड,
इलाहाबाद

रामप्रताप बहादुर